मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

वर्ष : 43
अंक : 2

अप्रैल - जून 2022

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

अल्पसंख्यक विशेषांक

आज़ादी का अमृत महोत्सव

सेवा और सुशासन के 4 साल समृद्धि के

विकास व खुशहाली का पर्याय हिमाचल प्रदेश

"हिमाचल प्रदेश और देश के युवाओं के सपनों और आकांक्षाओं में ही समृद्धि की नई संभावनाएं और राष्ट्र की प्रगति की नई ऊंचाईयां समाहित हैं। देश के हर क्षेत्र, हर नागरिक के आत्मविश्वास को जगाने के लिए विकास और सुधारों का सिलसिला लगातार चलता रहेगा।"

नरेन्द्र मोदी, प्रधानमंत्री

आयुष्मान भारत

4.25 लाख परिवारों के गोल्डन कार्ड बनाए गए, 1.22 लाख लाभार्थियों का 148.78 करोड़ रुपये खर्च कर किया निःशुल्क इलाज

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना

1.36 लाख परिवारों को निःशुल्क गैस कनेक्शन प्रदान 21.86 करोड़ रुपये खर्च

मुख्यमंत्री हिमाचल हेल्थकेयर योजना–हिमकेयर

5.13 लाख परिवार पंजीकृत 2.29 लाख लाभार्थियों के इलाज पर 207.23 करोड़ रुपये खर्च

जनमंच

232 जनमंच आयोजित, 53,665 शिकायतें/मांगें प्राप्त 93 प्रतिशत का किया समाधान

मुख्यमंत्री सेवा संकल्प हेल्पलाइन–1100

3.21 लाख शिकायतें प्राप्त, 86 प्रतिशत का किया निपटारा

मुख्यमंत्री गृहिणी सुविधा योजना

3.23 लाख परिवारों को निःशुल्क गैस कनेक्शन प्रदान 2.39 लाख लाभार्थियों को दिया एक अतिरिक्त गैस रिफिल

प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना

356.72 करोड़ रुपये व्यय कर 14,513.78 हेक्टेयर भूमि सिंचित 46,559 किसान लाभान्वित

प्रधानमंत्री स्वनिधि योजना

3426 लाभार्थियों को 3.64 करोड़ रुपये के ऋण वितरित

सामाजिक सुरक्षा पेंशन

3.07 लाख वृद्धजनों का मिल रही 1500 रुपये मासिक पेंशन

प्राकृतिक खेती–खुशहाल किसान योजना

1,53,643 किसानों ने अपनायी प्राकृतिक खेती, 46.15 करोड़ रुपये खर्च, 9192 हेक्टेयर क्षेत्र प्राकृतिक खेती के तहत लाया गया

जल जीवन मिशन

7.78 लाख घरों में नल से पहुंचाया जल, 2021-22 के लिए 1429.08 करोड़ रुपये का बजट प्रावधान

प्रधानमंत्री आवास योजना (ग्रामीण)

वर्ष 2018 से अब तक 15.66 करोड़ रुपये व्यय कर 4878 लाभार्थियों को मकान स्वीकृत

प्रधानमंत्री आवास योजना (शहरी)

अब तक 3997 आवास निर्मित, 98.14 करोड़ रुपये व्यय

प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना

राज्य के 9.37 लाख से अधिक किसानों को पीएम किसान सम्मान निधि योजना के तहत लगभग 1532.38 करोड़ रुपये प्रदान

प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना

कुल 1,26,825 मीट्रिक टन खाद्यान्न वितरित, 643.34 करोड़ रुपये व्यय कर 29,51,191 लोग लाभान्वित

₹ 200/-

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 43, अंक : 2 अप्रैल-जून 2022

अल्पसंख्यक विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91-9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
381, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		04
3.	अल्पसंख्यक : प्रावधान व राजनीति	आरिफ मोहम्मद खां	05
4.	अल्पसंख्यक तत्व की भूलभुलैया	रामबहादुर राय	10
5.	औपनिवेशिक भारत में अल्पसंख्यक वर्ग का निर्माण	प्रो. हिमांशु राय	16
6.	संवैधानिक विरोधाभास पर गहन अंतर्दृष्टि	डॉ. सीमा सिंह	21
7.	अल्पसंख्यक प्रश्न एवं संवैधानिक प्रावधान	प्रो. श्रीप्रकाश सिंह	29
8.	भारत में सांप्रदायिक राजनीति की औपनिवेशिक भावभूमि	प्रो. अमर पाल सिंह	33
9.	अल्पसंख्यक तत्व की संवैधानिक प्रासंगिकता	प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी	39
10.	संविधान सभा का दर्द	डॉ. महेश चंद्र शर्मा	45
11.	पश्चिमी देशों के संविधान में अल्पसंख्यक	डॉ. विनय कौड़ा	49
12.	अल्पसंख्यक अवधारणा और देशज मुसलमान	डॉ. फैयाज अहमद फैजी	56
13.	राष्ट्रीय जन का अभिन्न अंग है मुसलमान	डॉ. शाहिद अख्तर	60
14.	चर्च के भँवरजाल में धर्मांतरित ईसाई	आर. एल. फ्रांसिस	64
15.	संविधान सभा में अल्पसंख्यक प्रश्न	वाद-विवाद उद्धरण	72
16.	विभाजक विधान पर दो पक्ष	बी. पोकर साहब बहादुर एवं एम. अनंतशयनम् आयंगर के भाषण	77

आनुषंगिक आलेख

1.	आधुनिकता का तकाजा है समानता	रामधारी सिंह 'दिनकर'	59
2.	मुस्लिम राष्ट्रीय मंच का सूत्रपात	विराग श्रीकृष्ण पाचपोर	62

लेखकों का परिचय

आरिफ मोहम्मद खां फिलहाल केरल के राज्यपाल हैं। इसके पहले वह केंद्रीय मंत्री रह चुके हैं और श्री राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में मुस्लिम पर्सनल लॉ विधेयक पास होने को लेकर उन्होंने मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया था। वे मुस्लिम समाज में लगातार सुधारों की बात करते रहे हैं तथा अकादमिक रूप से भी निरंतर सक्रिय रहे हैं।

रामबहादुर राय पद्मश्री से सम्मानित। हिंदुस्तान समाचार के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के अध्यक्ष। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के साथ आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। संपर्क: rbrai118@gmail.com

प्रो. हिमांशु राय दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर हैं। वे अटल बिहारी वाजपेयी सीनियर फेलो, नेहरू म्यूजियम ऐंड लाइब्रेरी (एनएमएमएल), तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली, एनएमएमएल के फेलो रहे हैं। उनकी प्रकाशित कृतियों में पटेल: पोलिटिकल आइडियाज ऐंड पॉलिसीज, सेज (2018), स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया (2017), इंडियन पोलिटिकल थॉट (2017) इंडियन पोलिटिकल सिस्टम (2017) एवं सलवा जुडूम (2014) शामिल हैं। उनकी आगामी कृति है सोशल थॉट इन इंडिक सिविलाइजेशन, सेज, 2022।

डॉ. सीमा सिंह लखनऊ विश्वविद्यालय से एलएलएम तथा दिल्ली स्थित जामिया मिल्लिया इस्लामिया से पीएचडी हैं। संवैधानिक विधि, तुलनात्मक संवैधानिक विधि, अंतरराष्ट्रीय आर्थिक विधि, प्रशासनिक विधि, आपराधिक विधि तथा न्याय दर्शन उनकी रुचि के क्षेत्र हैं। वे राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में इन विषयों पर निरंतर लिखती रही हैं। संप्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के कैंपस लॉ सेंटर में प्रोफेसर हैं।

प्रो. श्रीप्रकाश सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में प्रोफेसर हैं। इनकी रुचि के क्षेत्र प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय राजनैतिक विचार, सामाजिक बहिष्कार, सामाजिक समावेशन, डॉ. अंबेडकर का दर्शन, समाजिक न्याय तथा समावेशी विकास, सशक्तीकरण, आरक्षण, राष्ट्रवाद तथा पंथनिरपेक्षता आदि हैं। प्रो. सिंह की प्रमुख कृतियों में डॉ. अंबेडकर ऑन माइनॉरिटीज, डॉ. अंबेडकर: अल्पसंख्यक प्रश्न एवं संवैधानिक प्रावधान, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी: व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विचार आदि हैं।

प्रो. अमर पाल सिंह नई दिल्ली स्थित गुरु गोबिंद सिंह इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय में विधि एवं विधिक अध्ययन विद्यापीठ के अधिष्ठाता हैं। मुख्यत: संवैधानिक विधि, पर्यावरण विधि तथा विधिक दर्शन के विशेषज्ञ हैं।
संपर्क: amarpalsingh@ipu.ac.in

प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी अमरकंटक स्थित इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय के कुलपति हैं।
संपर्क: vcigntu@gmail.com

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा पूर्व राज्यसभा सांसद। भाजपा केंद्रीय कार्यकारिणी के सदस्य, दीनदयाल प्रशिक्षण महाभियान के राष्ट्रीय संयोजक। दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङमय का हिंदी एवं अंग्रेजी में 15 खंडों में संपादन।
संपर्क : mahesh.chandra.sharma@live.om

डॉ. विनय कौड़ा राजस्थान की सरदार पटेल यूनिवर्सिटी ऑफ पुलिस, सिक्योरिटी ऐंड क्रिमिनल जस्टिस में सहायक प्रोफेसर हैं। वे विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर पीस ऐंड कॉनफ्लिक्ट स्टडीज के उप निदेशक भी हैं। वे भारत के संघीय तथा राज्य संगठनों के मध्यवर्ती पुलिस अधिकारियों के लिए दीर्घकालीन अनुसंधान तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों का संचालन करते हैं।

डॉ. फैयाज अहमद फैजी लेखक, अनुवादक, सामाजिक कार्यकर्ता एवं पेशे से यूनानी चिकित्सक हैं। पिछले कई वर्षों से देश के वंचित पसमांदा मुसलमानों के उत्पीड़न एवं अधिकार की बात विभिन्न मंचों से उठा रहे हैं। इन्होंने अनुच्छेद 370 के हटाए जाने और तीन तलाक विधेयक को मुस्लिम समाज के लिए हितकारी बताया है। ये समान नागरिक संहिता के भी समर्थक हैं। मुस्लिम सांप्रदायिकता तथा मुस्लिम समाज की कुरीतियों के विरोध में खुलकर बोलते, लिखते रहे हैं।

डॉ. शाहिद अख्तर प्रोफेसर सेंटर फॉर मैनेजमेंट स्टडीज, जामिया मिलिया इस्लामिया यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली, सदस्य, नेशनल कमीशन फॉर माइनॉरिटी एजुकेशन इंस्टिट्यूट, पूर्व चेयरमैन झारखण्ड स्टेट माइनॉरिटी कमीशन, राष्ट्रीय संयोजक मुस्लिम राष्ट्रीय मंच। संपर्क: 9431177767

आर. एल. फ्रांसिस पिछले तीन दशकों से भी ज्यादा समय से धर्मांतरित ईसाइयों के मामलों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर उठाते रहे हैं। वर्तमान में वह पुअर क्रिश्चियन लिबरेशन मूवमेंट के अध्यक्ष का दायित्व भी निभा रहे हैं। इस विषय पर देश-विदेश के समाचार पत्रों - पत्रिकाओं में लगातार लिखते रहे हैं।

विराग श्रीकृष्ण पाचपोर वरिष्ठ पत्रकार, लेखक संपादक न्यूज भारती डॉट कॉम, राष्ट्रीय संयोजक मुस्लिम राष्ट्रीय मंच, पूर्व अध्यक्ष इंटरनेशनल सेंटर फॉर कल्चरल स्टडीज।
संपर्क: vsp641952@gmail.com

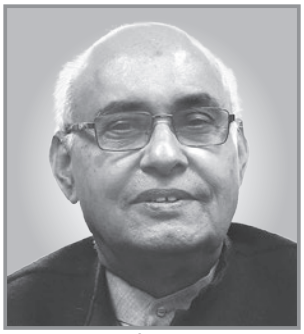

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

आजादी के अमृत महोत्सव से संदर्भित 'मंथन' के ग्राम स्वराज्य विशेषांक को आपका समुचित प्रतिसाद मिला। बहुत बहुत आभार।

अल्पसंख्यक विशेषांक आपके हाथों में है, आशा है आपके लिए उपयोगी होगा। उपनिवेशवाद के खंडहरों को ढोने के लिए हम बाध्य हैं। यह अल्पसंख्यक अवधारणा भारत को अंग्रेजों की तथा यूरोप को कृत्रिम राष्ट्र-राज्यों के निर्माण के इतिहास एवं राजनीति की देन है। बाल्कन देश अभी भी इससे परेशान हैं, अफ्रीकी देश भी इसे भोग रहे हैं। स्वयं यूरोप भी इस संदर्भ में सहज नहीं है। फ्रांस का उदाहरण इसके लिए पर्याप्त शिक्षाप्रद है।

भारत के संविधान निर्माताओं ने सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में इस मुद्दे को सुलझाना चाहा तथा बहुत मात्रा में सुलझा भी दिया, लेकिन आजादी के बाद की राजनीति में तुष्टीकरण की एक बीभत्स कहानी है, कांग्रेस के नेतृत्व में सभी राजनैतिक दलों ने इसमें भूमिका निभाई है। जो अल्पसंख्यकवाद आजादी के हमारे आंदोलन को भटकाने में सफल हुआ और देश का बँटवारा ही हो गया, वही अल्पसंख्यकवाद आज पुनः भारत की राजनीति के ध्रुवीकरण का कारण बन गया है। हमारे राष्ट्रीय मानस की श्रद्धाएँ सांप्रदायिक कहलाने लगी हैं तथा पाश्चात्यारोपित तथाकथित सेक्यूलरिज्म हमारी राष्ट्रीय आम सहमति का कारक बताया जा रहा है। पूरी एक पीढ़ी भ्रम की शिकार हो गई है। भारतमाता की औरस संतानें मुसलमानों को पराया एवं बेगाना बनाया गया है। उन्हें विदेशी एवं आक्रामक ऐतिहासिकता का वाहक बनाया जा रहा है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है।

संवैधानिक, वैधानिक, न्यायिक एवं राजनैतिक भूलभुलैयाओं से गुजरता यह अल्पसंख्यक तत्व आज जिस प्रकार हम लोगों के समक्ष है, उसकी पड़ताल करता हुआ, 'मंथन' का यह अंक है। आपके सुझावों व सलाहों की प्रतीक्षा है।

शुभम्

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

आरिफ मोहम्मद खां

अल्पसंख्यक: प्रावधान व राजनीति

'एको सत विप्रा बहुधा वदंति' जैसा सूत्र देने वाले भारत में विविधता का हमेशा से स्वागत होता रहा है। फिर भी यहाँ अंग्रेजों के समय में शुरू हुई अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक की राजनीति आज तक चली आ रही है। प्रासंगिकता पर एक दृष्टि

स्वतंत्रता आंदोलन के आरंभ होने के बाद अंग्रेज शासकों ने लंबे समय तक उसको मान्यता देने से इनकार किया। उनका कहना था कि भारत एक राष्ट्र नहीं, विभिन्न धार्मिक और सामाजिक वर्गों का हुजूम है और यहाँ किसी एक संगठन या व्यक्ति का यह अधिकार तो माना जा सकता है कि वह अपने संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करे लेकिन उसकी आवाज को पूरे देश की आवाज नहीं माना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि 1857 की क्रांति के असफल होने के बाद अंग्रेजी शासक गहन विचार विमर्श के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके शासन की स्थिरता तभी पैदा हो सकती है जब भारत अंदर से बँटा रहे। यह बात खुद उस समय की फाइलों में सरकार के बड़े अधिकारियों की टिप्पणियों से स्पष्ट हो जाती है।

उदाहरण के तौर पर ब्रिटिश सरकार के भारतीय मामलों के मंत्री जॉर्ज हैमिल्टन[1] ने 1860 में एक फाइल पर लिखा है: मैं नहीं जानता कि हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में हमें क्या नजरिया अपनाना चाहिए। हिंदुस्तानियों के बीच विचारों और कार्यकलापों की एकता राजनैतिक दृष्टिकोण से हमारे लिए अत्यंत घातक हो सकती है और उनके बीच अलगाव और टकराव प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न करेंगे। लेकिन कुल मिलाकर दूसरा विकल्प अधिक सुविधाजनक है। हालाँकि इसके कारण मौके पर मौजूद हमारे प्रशासनिक अधिकारियों को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

एक बार यह निर्णय कर लेने के बाद औपनिवेशिक सत्ता ने अपनी नीतियाँ और विशेषत: भारत के लिए जो संवैधानिक प्रावधान बनाए, उसमें यही सुनिश्चित किया गया कि भारत में हर धार्मिक और सामाजिक समूह की वर्गीय चेतना को अधिक से अधिक उभारा जाए ताकि लोग दूसरे वर्ग के नुकसान में अपना फायदा देखने लगें।

अपनी इसी नीति के चलते अंग्रेज शासकों ने 1909 में ही संवैधानिक सुधार[2] के लिए जो प्रबंधन किया उसमें अलग चुनाव प्रणाली की व्यवस्था की जिसके नतीजे में भारतीय मुसलमानों को बाकी मतदाताओं से अलग करके या कहें कि धार्मिक अल्पसंख्यक मानकर अपने राजनैतिक प्रतिनिधि अलग से चुनने का विशेष अधिकार दिया गया। इसके साथ अंग्रेज लगातार कहते रहे कि भारत में आपस में मतभेद इतने गहरे हैं कि किसी प्रकार की राष्ट्रीय एकता संभव ही नहीं है और इसीलिए भारत पर लंबे समय से विदेशी ही शासन करते रहे हैं।

ऐसे कुतर्कों के जवाब के तौर पर 26 मई 1926 को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े लोगों ने पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति[3] का गठन किया जिसका काम यह था कि वह भारत के लिए राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप एक सर्वसम्मत संविधान का मसौदा तैयार करे ताकि तत्कालीन शासकों से यह माँग की जा सके कि भारत में भारतीयों द्वारा बनाया गया संविधान लागू किया जाए। इस समिति ने व्यापक विचार विमर्श के आधार पर जो मसौदा तैयार किया था उसमें स्पष्ट घोषणा की गई कि अंग्रेजों द्वारा जो "अलग चुनाव प्रणाली" (Separate electorate system) लागू की गई है वह भारतीय समाज को खंडित करने

का प्रयास है, इससे भारतीय राष्ट्रीय भावना कमजोर होती है। इसलिए इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। समिति ने यह भी कहा कि 'अलग चुनाव प्रणाली' ने नए सांप्रदायिक विवादों को जन्म दिया है, जिसके कारण समाज में तनाव पैदा हुए हैं जिनका नकारात्मक प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर पड़ रहा है। समिति ने 'अलग चुनाव प्रणाली' के तहत मुसलमानों के लिए केंद्रीय विधायिका में उनकी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व देने के प्रावधान को भी उसी साजिश का हिस्सा बताया जिसका उद्देश्य भारतीयों के बीच सांप्रदायिक वैमनस्य पैदा करके उनकी राष्ट्रीय एकता को कमजोर करना था। समिति ने 'अलग चुनाव प्रणाली' के स्थान पर यह प्रस्ताव दिया कि मुसलमानों के लिए उनकी आबादी के आधार पर सीटें सुरक्षित कर दी जाएँ और दस साल के लिए साधारण सीट से चुनाव लड़ने का प्रावधान भी कर दिया जाए लेकिन यह चुनाव संयुक्त चुनाव प्रणाली के अंतर्गत होंगे।

आम तौर से इस समिति की सिफारिशों का स्वागत हुआ लेकिन मुस्लिम लीग ने 'अलग चुनाव प्रणाली' हटाने का कड़ा विरोध किया।[4] इस संदर्भ में दिसंबर 1928 में सभी राजनैतिक दलों का एक सम्मेलन[5] कलकत्ता में डॉ.मुख़्तार अहमद अंसारी की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। डॉ. अंसारी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में मुसलमानों से आग्रहपूर्वक अनुरोध किया कि वह इस समिति की सिफारिशों को खुले दिल से स्वीकार कर लें और समिति की सिफारिशों का विरोध करके राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने का काम न करें। डॉ. अंसारी ने अपने भाषण में और बहुत सी बातों के साथ लीग आफ नेशंस (League of Nations) की एक समिति की सिफारिशों से एक उद्धरण दिया। इसमें कहा गया है कि "किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग की सुरक्षा की सबसे बड़ी जमानत बहुसंख्यक वर्ग की सद्भावना होती है"। उन्होंने आगे कहा कि अल्पसंख्यक वर्ग का कल्याण और प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि उन्होंने अपने लिए कितने विशेषाधिकार अर्जित कर लिए, बल्कि राष्ट्रीय समाज में उनका दरजा उनकी देशभक्ति तथा लोकहितभाव से तय होता है। डॉ. अंसारी ने आगे कहा कि ऐसे संवैधानिक प्रावधान जो किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्रदान करते हों, समाज में असमानता और तनाव पैदा करते हैं, और यह 'अयोग्यता को पुरस्कृत' करने के समान है। उन्होंने आगे कहा कि आरक्षण और विशेष प्रावधान जैसे उदार संवैधानिक प्रावधान किसी भी वर्ग की प्रतिस्पर्धा की स्वस्थ भावना को क्षीण कर देते हैं। इसके नतीजे में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग और भी कमजोर होता चला जाता है और फिर वह विशेषाधिकार भी उसके लिए लाभदायक नहीं रहते।

डॉ. अंसारी ने कहा कि अलगाववादी और सांप्रदायिक मानस को कभी भी संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। आप इनकी माँगों को जितना मानते चले जाएंगे उतना ही उनकी माँगें बढ़ती चली जाएंगी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो लोग राष्ट्रीय आकांक्षाओं के रास्ते में कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रहे हैं उनका असल उद्देश्य विदेशी शासकों को खुश करके अपने कुछ निजी स्वार्थ पूरे करना है, इसके लिए वह सांप्रदायिकता का सहारा लेते हैं। डॉ.अंसारी और दूसरे राष्ट्रवादी नेताओं की इन सशक्त दलीलों और प्रभावशाली भाषणों के बावजूद सांप्रदायिक शक्तियों ने नेहरू समिति का विरोध जारी रखा और अंग्रेज के हाथ मजबूत किए ताकि वह यह कह सकें कि नेहरू समिति की सिफारिशों पर कोई राष्ट्रीय सहमति नहीं है, इसलिए उनको स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

डॉ. अंसारी ने कहा कि अलगाववादी और सांप्रदायिक मानस को कभी भी संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। आप इनकी माँगों को जितना मानते चले जाएंगे उतना ही उनकी माँगें बढ़ती चली जाएंगी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो लोग राष्ट्रीय आकांक्षाओं के रास्ते में कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रहे हैं उनका असल उद्देश्य विदेशी शासकों को खुश करके अपने कुछ निजी स्वार्थ पूरे करना है, इसके लिए वह सांप्रदायिकता का सहारा लेते हैं। डॉ. अंसारी और दूसरे राष्ट्रवादी नेताओं की इन सशक्त दलीलों और प्रभावशाली भाषणों के बावजूद सांप्रदायिक शक्तियों ने नेहरू समिति का विरोध जारी रखा और अंग्रेज के हाथ मजबूत किए

इसके बाद अंग्रेजी सरकार भारत का शासन अपने बनाए हुए उन कानूनों और प्रशासनिक नीतियों के आधार पर चलाती रही जिनके मूल में यह मान्यता थी कि भारत की संघटक इकाई नागरिक नहीं, बल्कि संप्रदाय हैं। इसके नतीजे में खुद भारतीयों के बीच अलग धर्म, भाषा और जाति की समूह चेतना बढ़ती चली गई। इस उपनिवेशवादी मंसूबे को कामयाब बनाने के लिए मुस्लिम लीग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अलगाववाद के जो बीज उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बोए गए थे, वह सौ साल के अंदर एक मजबूत तनावर पेड़ की शक्ल में सामने आ गए और 1940 आते-आते अलगाववादी सोच ने धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक विवाद पैदा करके देश के विभाजन की माँग की शुरुआत कर दी।

1940 के दशक में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को दो चुनौतियाँ का खुलकर सामना करना पड़ा। एक ओर विदेशी राज से भारत को मुक्ति दिलाना और दूसरी ओर अंग्रेजों की सहयोगी पार्टी मुस्लिम लीग की देश को तोड़ने की साजिशों से भारत को बचाने के प्रयास करना। मुसलिम लीग का कहना था कि भारत एक राष्ट्र नहीं बल्कि यहाँ दो राष्ट्र बसते हैं, जो अंग्रेजों के जाने के बाद मिलकर साथ नहीं रह सकते। दोनों के बीच न केवल आस्था की विभिन्नता है बल्कि इतिहास और नैतिकता को लेकर भी गहरी खाई है जिसे पाटा नहीं जा सकता। इसलिए अंग्रेज के जाने से पहले भारत का विभाजन जरूरी है।[6]

दूसरी तरफ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं का कहना था कि यह बात सही है कि भारत में आस्था, रंग, जाति और भाषा की विविधताएँ हैं लेकिन इन विविधताओं के बीच एकता पैदा कर लेना भारत की विशेष प्रतिभा है। भारतीय संस्कृति का इतिहास यह दिखाता है कि हम विविधता को प्रकृति का

स्वाभाविक गुण मानते हैं और संस्कृति का मतलब ही यह है कि विविधता के बीच समन्वय स्थापित करके एकता कायम की जाए। हम विविधता को चिंता की दृष्टि से नहीं देखते हैं बल्कि हम इसे अपनी संस्कृति को समृद्ध करने के स्रोत के तौर पर उपयोग करते हैं। हमारे ऋषियों ने भारतीय सभ्यता के आदिकाल में ही यह घोषणा कर दी थी कि सत्य एक है परंतु उसको देखने और उसका बखान करने के तरीके अनेक हैं: एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।[7]

केवल इतना ही नहीं कि हमारे यहाँ दुनिया की सभी धार्मिक परंपराओं को मानने वाले मौजूद हैं बल्कि एक ही परंपरा खास तौर से सनातन में अनेकों संप्रदाय हैं, अनेकों पूजा पद्धतियाँ हैं और भिन्न-भिन्न रस्में और रिवाज हैं। भारत की यही समावेशी परंपरा है जिसके चलते स्वामी विवेकानंद ने 1893 में शिकागो की धर्म संसद में कहा कि भारत की सहनशीलता और सार्वभौमिक स्वीकृति की परंपरा के चलते दुनिया में कहीं भी जब वहाँ के रहने वाले लोगों को उनकी धार्मिक आस्था के कारण अत्याचार का निशाना बनाया गया और उन्हें अपना घर छोड़ने पर मजबूर किया, भारत ने उन्हें अपने दामन में पनाह दी। वह चाहे मध्य एशिया के यहूदी हों या ईरान के पारसी। बहुत छोटी संख्या होने के बावजूद अपनी आस्था, भाषा और रस्म-रिवाज को लेकर उन्होंने भारत में कभी किसी प्रकार की असुरक्षा महसूस नहीं की।

स्वामी जी ने अपने भाषण में शिव महिम्नस्तोत्रम् से एक उद्धरण दिया:

रुचिनां वैचित्र्या दृजुकुटिल नानापथ जुषाम्।
निर्णामेको गम्यस्त्वमसि पयसा मरणव इव।।

अर्थात् जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अंत में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।

भारतीय सभ्यता की इस विशेषता को उजागर करने के लिए स्वामी जी ने भगवदगीता के एक श्लोक को भी उद्धृत किया

ये यथा मा प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम।
मम वत्मार्नुवर्तते मनुष्या: पार्थ सर्वश:।।[8]

अर्थात् जो कोई मेरी ओर आता है- चाहे किसी प्रकार से हो, मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।

इस मामले में अगर हम मुस्लिम इतिहास पर गौर करें तो पाएंगे कि खुद पैगंबर साहब के निधन के 48 वर्ष बाद जब उनके अपने परिवार के लोगों पर उनकी अपनी कायम की हुई राज्य व्यवस्था ने अत्याचार करना आरंभ किया तो इमाम हुसैन ने विवाद के समाधान के तौर पर यह प्रस्ताव रखा कि उनको भारत जाने की इजाजत दे दी जाए। इमाम हुसैन को तो नहीं आने दिया गया और कर्बला के मैदान में उनकी और उनके 72 साथियों की जान ले ली गई। लेकिन परिवार और उनके वफादारों के खिलाफ जब जुल्म का यह सिलसिला चलता रहा तो वह लोग लगातार भारत में आकर बसते रहे।[9]

भारत में मुसलमान लगभग एक हजार साल से बसते हैं। वह भारत की इस सनातन परंपरा से भलीभाँति परिचित हैं लेकिन मुस्लिम लीग के नेतृत्व ने यह सब देखने से इनकार कर दिया और देश का विभाजन कर पाकिस्तान बनाने की माँग

को लेकर अपना आंदोलन शुरू कर दिया। यह बात अपने आपमें आश्चर्यजनक है कि अल्लामा इक़बाल[10] और मुहम्मद अली जिन्नाह[11] जिन्हें पाकिस्तान का वैचारिक और व्यावहारिक जनक माना जाता है दोनों ही भारतीय मूल के मुस्लिम थे, जिनके दादा और पिता ने पक्की उम्र में इस्लाम स्वीकार किया था। दोनों ही अपने प्रारंभिक जीवन में राष्ट्रवादी और देशभक्त विचारों के मानने वाले थे। दोनों की गिनती ऐसे लोगों में होती है जिन्हें इतिहास और सभ्यता का बोध था। लेकिन लगता है कि बाद में दोनों धार्मिक अलगाववाद की धारा में ऐसे बहे कि उन्होंने खुद अपनी विरासत को न केवल नकार दिया बल्कि धार्मिक भावनाओं को ऐसा भड़काया कि जो देश उन्होंने बनाया उसमें आज भी धार्मिक उन्माद काबू में नहीं आ सका है।

यहाँ पर उचित होगा कि हम यह देखें कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की जो कल्पना उपनिवेशी शासकों और मुस्लिम लीग ने दी, क्या वह कल्पना भारत के सांस्कृतिक संदर्भ में प्रासंगिक थी। इस सवाल का विस्तृत उत्तर हमें मौलाना आजाद के कांग्रेस अधिवेशन में दिए गए अध्यक्षीय भाषण[12] (March 1940) में मिलता है जिसमें उन्होंने कहा:

"हिंदुस्तान के सियासी मसायल में कोई बात भी इस दरजा गलत नहीं समझी गई है जिस दरजा यह बात कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की हैसियत एक सियासी अकलियत (अल्पसंख्यक) की हैसियत है और इसलिए उन्हें जमहूरी (लोकतांत्रिक) हिंदुस्तान में अपने हुकूक और मफाद की नजर से अनदेशानाक (चिंतित) रहना चाहिए। इस एक बुनियादी गलती ने बेशुमार गलतफहमियों का दरवाजा खोल दिया। गलत बुनियादों पर गलत दीवारें चुनी जाने लगीं। इसने एक तरफ तो खुद मुसलमानों पर उनकी असल हैसियत मुशतबह (संदेहात्मक) कर दी दूसरी तरफ दुनिया को एक ऐसी गलतफहमी में मुबतला कर दिया जिसके बाद वो हिंदुस्तान को उसकी सही सूरतेहाल में नहीं देख सकती। अगर वक्त होता तो मैं आपको बताता कि मामले की यह गलत और बनावटी शक्ल क्यों कर ढाली गई और किन हाथों से ढली। दरअसल यह उसी 'फूट डालो और राज करो' की पॉलिसी की पैदावार है जिसका नक़्शा इंडियन नेशनल कांग्रेस की आजादी की तहरीक शुरू होने के बाद सरकारी दिमागों में बनना शुरू हो गया था, जिसका मक़सद (उद्देश्य) यह था कि मुसलमानों को इस नई सियासी बेदारी (राजनैतिक चेतना) के खिलाफ इस्तेमाल करने के लिए तैयार किया जाए। इस नक़्शे में दो बातें ख़ास तौर से उभारी गई, एक यह कि हिंदुस्तान में दो मुख़्तलिफ क़ौमें आबाद हैं - एक हिंदू क़ौम और एक मुसलिम क़ौम। इसलिए मुत्तहिदा क़ौमियत (एक राष्ट्र) के नाम पर यहाँ कोई मुतालबा (माँग) नहीं किया जा सकता। दूसरी यह कि मुसलमानों की तादाद हिंदुओं के मुक़ाबले बहुत कम है। इसलिए यहाँ जमहूरी इदारों (लोकतांत्रिक संस्थाओं) के क़याम का लाजमी नतीजा यह होगा हिंदू अकसरियत (बहुसंख्यक) की हुकूमत क़ायम हो जाएगी और मुसलमानों की हस्ती ख़तरे में पड़ जाएगी।

मैं सिर्फ इतनी बात आपको याद दिला दूँ कि अगर आप इस मामले की इबतिदाई तारीख़ (प्रारंभिक इतिहास) मालूम करना चाहते हैं तो आपको एक साबिक़ (पूर्व) वायसराय लार्ड डफरिन और एक साबिक़ (पूर्व) लेफ्टिनेंट गवर्नर यूनाइटड प्रोविंसेज सर औकलेंड कालविन के जमाने की तरफ लौटना होगा। सियासी बोलचाल में जब कभी अक़लियत (अल्पसंख्यक) का लफ्ज बोला जाता है तो उसका मक़सद यह नहीं होता कि रियाजी (गणित) के क़ायदे के मुताबिक़ इनसानी अफराद (व्यक्ति) की हर ऐसी तादाद जो दूसरे से कम हो लाजमी तौर पर अक़लियत होती है, बल्कि इससे मक़सूद एक ऐसी कमजोर जमाअत होती है जो तादाद और सलाहियत दोनों के एतबार से अपने को इस क़ाबिल नहीं पाती कि वो एक बड़े और ताक़तवर गिरोह के साथ रहकर अपनी हिफाजत के लिए ख़ुद अपने ऊपर एतमाद कर सके। अब जरा गौर कीजिए इस लिहाज से हिंदुस्तान में मुसलमानों की असली हक़ीक़त क्या है। आपको देर तक गौर करने की जरूरत नहीं होगी। आप एक ही निगाह में मालूम कर लेंगे कि आपके सामने एक अजीम (बड़ा) गिरोह अपनी इतनी बड़ी और फैली हुई तादाद (संख्या) के साथ सर उठाए खड़ा है कि उसकी निस्बत अक़लियत (अल्पसंख्यक) की कमजोरियों का गुमान करना भी अपनी निगाह को धोका देना है।"

सिर्फ रामगढ़ में ही नहीं, मौलाना आजाद लगातार मुसलमानों को पूरी सहानुभूति और अपनाइयत की भावना के साथ यह सब समझाते रहे। लेकिन, बक़ौल फ्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी मुसलमानों ने उर्दू जुबान की कोई गंदी से गंदी और भद्दी से भद्दी गाली नहीं छोड़ी जिसका इस्तेमाल उन्होंने मौलाना के लिए ना किया हो। जिन्नाह ने अगर मौलाना आजाद को "शो बॉय" (मुखौटा) कहा तो उर्दू अख़बारों ने लगातार मौलाना को "हिंदू कांग्रेस का मुसलमान राष्ट्रपति" कहकर संबोधित किया।[13]

मौलाना को मुसलमानों के हाथों जो तकलीफें पहुँची उसकी सशक्त अभिव्यक्ति उनके उस भाषण में मिलती है जो उन्होंने विभाजन के बाद अक्तूबर 1947 में दिल्ली जामा मस्जिद के बाहर दिया था। उस भाषण में मौलाना ने कहा: "तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें पुकारा तो तुमने मेरी जुबान काट ली, मैंने क़लम (लेखनी) उठाया तो तुमने मेरे हाथ क़लम (काट डालना) कर दिए, मैंने चलना चाहा तो तुमने मेरे पाँव काट दिए, मैंने करवट लेनी चाही तो तुमने मेरी कमर तोड़

सिर्फ रामगढ़ में ही नहीं, मौलाना आजाद लगातार मुसलमानों को पूरी सहानुभूति और अपनाइयत की भावना के साथ यह सब समझाते रहे। लेकिन, बक़ौल फ्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी मुसलमानों ने उर्दू जुबान की कोई गंदी से गंदी और भद्दी से भद्दी गाली नहीं छोड़ी जिसका इस्तेमाल उन्होंने मौलाना के लिए ना किया हो। जिन्नाह ने अगर मौलाना आजाद को 'शो बॉय' कहा तो उर्दू अख़बारों ने लगातार मौलाना को 'हिंदू कांग्रेस का मुसलमान राष्ट्रपति' कहकर संबोधित किया

दी। हालाँकि पिछले सात बरस की तल्ख़नवा (कड़वी) सियासत जो आज तुम्हें दागे जुदाई दे गई है उसके अहदे शबाब (जवानी का दौर) में भी मैंने तुम्हें ख़तरे की शाहराह पर झिंजोड़ा लेकिन तुमने मेरी सदा से न सिर्फ अहतिराज (अनदेखा) किया बल्कि गफलत और इनकार की सारी सुन्नतें ताजा कर दीं।"[14]

अल्पसंख्यकवाद की इस राजनीति के चलते भारत विभाजित हो गया लेकिन विभाजन का मानस ऐसी बीमारी है जिससे एक बार ग्रस्त होने के बाद छुटकारा मिलना लगभग नामुमकिन है। भारत के विभाजन के 25 वर्षों के अंदर पाकिस्तान ख़ुद विभाजित हो गया और दूसरे विभाजन की अनोखी बात यह थी कि वहाँ बंगाली जो बहुसंख्यक थे उन्होंने माँग की कि वह पश्चिमी पाकिस्तान के साथ नहीं रह सकते।

औपनिवेशिक और मुस्लिम लीग की राजनीति की विरासत के इस प्रेत ने आजादी के बाद भी हमारा पीछा नहीं छोड़ा। हमारी संविधान सभा में अल्पसंख्यक के नाम पर राजनैतिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को तो रद्द कर दिया लेकिन सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई अधिकारों को स्वीकारने की प्रक्रिया में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग कर दिया गया।[15] जिसका नतीजा यह है कि आज भी पुरानी लीगी मानसिकता के लोग इन प्रावधानों का नाम लेकर सांप्रदायिक और अलगाववादी राजनीति को बढ़ावा देने का प्रयास करते हैं। हमारे एक संविधान विशेषज्ञ का कहना है कि जितने मूलभूत अधिकार संविधान के अध्याय 3 में निहित हैं। अगर यह अध्याय संविधान में ना भी होता तो इन सब अधिकारों को संविधान की प्रस्तावना के आधार पर भी सुनिश्चित किया जा सकता था।

अल्पसंख्यकवाद की इस राजनीति के चलते भारत विभाजित हो गया लेकिन विभाजन का मानस ऐसी बीमारी है जिससे एक बार ग्रस्त होने के बाद छुटकारा मिलना लगभग नामुमकिन है। भारत के विभाजन के 25 वर्षों के अंदर पाकिस्तान ख़ुद विभाजित हो गया और दूसरे विभाजन की अनोखी बात यह थी कि वहाँ बंगाली जो बहुसंख्यक थे उन्होंने माँग की कि वह पश्चिमी पाकिस्तान के साथ नहीं रह सकते

मैंने पहले ही कहा है कि भारत में विविधताओं का संरक्षण और संवर्द्धन आदिकाल से होता चला आया है लेकिन शायद अगर इस संदर्भ में ऐतिहासिक कारणों का ध्यान रखते हुए शब्दावली के प्रयोग में और ज़्यादा एहतियात बरती जाती तो बहतर होता। भारत के संदर्भ में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक शब्द महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि भारतीय संस्कृति, मूलवंश, भाषा या धार्मिक आस्था से नहीं बल्कि आत्मा से परिभाषित होती है। इस संस्कृति का मर्म यह है कि हर किसी के अंदर आत्मा के रूप में परमात्मा का वास है इसलिए यह संस्कृति आस्था, भाषा, वंशमूल या जाति के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की इजाजत ही नहीं देती बल्कि मानव के दिव्य तत्व के आधार पर सबके साथ समानता का व्यवहार करने को जरूरी मानती है

पाषण्ड नैगम श्रेणी पूगव्रात गुणादिशु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।।[16]

संदर्भ:

1. जॉर्ज हैमिल्टन, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया: स्रोत: *एनाटमी ऑफ कन्फ्रंटेशन*, सं. सर्वपल्ली गोपाल, जेड बुक्स, लंदन, पृ. 12
2. इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट ऑफ 1909
3. 15 अगस्त 1928 की नेहरू रिपोर्ट (28 अगस्त को अनुमोदित) एक नई डोमिनियन स्टेटस के लिए अपील तथा भारत के संविधान के लिए सरकार के एक संघीय ढाँचे हेतु ज्ञापन थी। इस कमेटी को भारत के संविधान के सिद्धांतों के साथ-साथ सांप्रदायिकता तथा डोमिनियन स्टेटस के मुद्दे की संक्षिप्त जानकारी दी गई थी।
4. मुस्लिम लीग, जो कि ऑल पार्टी कॉनफ्रेंस का हिस्सा थी, ने प्राथमिक रूप से इस रिपोर्ट को खारिज कर दिया था क्योंकि इसमें मुसलमानों के लिए अलग से निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था नहीं थी। देखें: https://www.constitutionofindia.net/historical_constitutions/nehru_report__motilal_nehru_1928__1st%20January%201928
5. वी.डी. कुलकर्णी, *कॉनफ्लिक्ट इन इंडियन सोसायटी*, भारतीय विद्या भवन
6. ऑल इंडिया मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन ने एक संकल्प पारित किया। इसने भारत शासन अधिनियम, 1935 में अंतर्निहित संघ की योजना को खारिज कर दिया। लीग ने कहा कि यह इस देश की परिस्थितियों में न तो मुफीद है और न ही कारगर हो सकती है। इसलिए यह मुस्लिम भारत के लिए स्वीकार्य नहीं है। देखें: https://historypak.com/lahore-resolution-1940/
7. *ऋग्वेद* 164.46
8. *श्रीमद्भगवद्गीता* 4.11
9. योगिंदर सिकंद, *मुस्लिम्स इन इंडिया सिंस 1947: इस्लामिक पर्सपेक्टिव्ज ऑन इंटर फेथ रिलेशंस*, राउटलेज कर्जन पृ. 165, लखनऊ के प्रसिद्ध कवि मीर अनीस का शे'र है: कहते थे राह दो तो चला जाऊँ हिंद को
10. द *हर्बर्ट फेल्डमैन ऑम्निबस*, पृ. 440। इसमें इकबाल के पूर्वजों के बारे में पूरा विवरण दिया गया है, जो कि सप्रू ब्राह्मण थे और साथ ही जिन्ना के पूर्वजों के बारे में भी जो कि हिंदू वैश्य थे।
11. वोलपर्ट, *बायोग्राफी ऑफ जिन्ना*
12. *खुतबते आजाद*, पृ. 199, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष का वक्तव्य
13. सोरिश कश्मीरी, *मौलाना आजाद*, चट्टन पब्लिकेशन, लाहौर, पृ. 217
14. *खुतबते आजाद*, पृ. 247
15. भारत का संविधान, अनुच्छेद 29 और 30
16. *मध्य प्रदेश का न्यायिक इतिहास और न्यायालय*, पृ. 56
पाषण्ड नैगम श्रेणी पूगव्रात गुणादिशु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।।
अर्थात् राजा को वेदों पर विश्वास करने वाले समूहों (नैगमों) वेदों पा विश्वास न करने वाले संगठनों (पाषंडों) एवं अन्य को भी समान रूप से सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए।

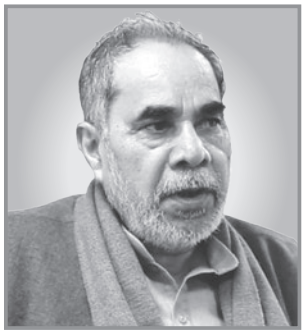

रामबहादुर राय

अल्पसंख्यक तत्व की भूलभुलैया

अल्पसंख्यक संबंधी संवैधानिक व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसकी परिभाषा ही स्पष्ट नहीं है। इसके चलते क्या-क्या विसंगतियाँ हैं और यह क्यों जरूरी है, इसका एक विश्लेषण

भारतीय संविधान में नागरिक अधिकारों के संरक्षण की कहानी बड़ी रोचक है। वह संविधान निर्माण की राजनैतिक परिस्थितियों और प्रक्रियाओं के झरोखे से देखी जा सकती है। इसका इतिहास और भूगोल उस समय तो बदला ही, आजादी के बाद भी इतना बदला है कि पहचानना भी कठिन है। इस बदलाव से प्रश्न पैदा होता है कि क्या संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण को सम्यक रूप में समझा गया या नहीं। यह प्रश्न सत्तारूढ़ राजनैतिक नेतृत्व से है। इसमें एक स्पष्टीकरण भी जरूरी है। सत्तारूढ़ राजनैतिक नेतृत्व से आशय पहले आम चुनाव से 2014 तक से विशेष तौर पर है। इसके इतिहास में अनेक आयाम दिखते हैं। अपने औपनिवेशिक हित साधने के लिए अंग्रेजों ने भारत की बहुलता और विविधता को विभिन्नता में बदला। भेदभाव की नींव रखी। यह एक आयाम है। अंग्रेजों से मुक्ति के लिए स्वाधीनता संग्राम में कांग्रेस ने जो-जो वादे किए, वे दूसरे आयाम को सामने लाते हैं। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का विभाजन तीसरा आयाम है। इनमें ही वह परिदृश्य देखा जा सकता है जो कार्य और कारण संबंध को स्पष्ट कर सकता है। कार्य का मतलब होता है, भविष्य। कारण से अतीत का पन्ना खुलता है। जिसे जोड़ता है, वर्तमान। बात शुरू करते हैं इतिहास से।

स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस शुरू से ही संवैधानिक सुधारों की बात करती रही। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट 'पूरी सांस्कृतिक स्वायत्तता' की गारंटी देती है। वह इसे स्पष्ट करती है कि इसके बिना एक सौमनस्यपूर्ण राष्ट्र नहीं बन सकता। यह वादा मुस्लिम लीग की माँगों के मद्देनजर था। सच तो यह है कि 1930 तक कांग्रेस स्वयं स्पष्ट नहीं थी कि उसके सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम क्या होंगे। लेकिन कराची कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की जहाँ माँग दोहराई वहीं बालिग मताधिकार, शिक्षा, विकास, सामाजिक-आर्थिक न्याय, व्यक्ति और समूहों के लिए समानता का सिद्धांत स्वीकार किया। क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद संवैधानिक समझौते के लिए तेज बहादुर सप्रू कमेटी बनी। उसकी रिपोर्ट दिसंबर 1945 में आई। सप्रू कमेटी ने भारत के विभाजन को अस्वीकार किया। एक ढीला-ढाला संघ की अवधारणा प्रस्तुत की। वास्तव में नेहरू कमेटी रिपोर्ट, रेनाल्ड कुपलैंड के सुझावों और क्रिप्स प्रस्तावों को घोलकर सप्रू कमेटी ने एक नया संवैधानिक रसायन बनाया। असल में सप्रू कमेटी का लक्ष्य था कि वह ब्रिटिश कुचालों और मुस्लिम लीग की विभाजन संबंधी चुनौतियों का संवैधानिक-राजनैतिक उत्तर खोजे। वह एक बड़ा प्रयास था।

उसी दौर में इस विषय से संबंधित वैश्विक घटनाओं का भी एक लंबा इतिहास है। जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अल्पसंख्यक विषय से संबंधित है। संविधान निर्माण पर उन घटनाओं ने बहुत बड़ा प्रभाव डाला। उसकी चर्चा इस आलेख में आगे करेंगे। यहाँ जरूरी है यह बताना कि जब संविधान बनाने का समय आया तो संविधान सभा ने सबसे पहले एक अधिकार पत्र बनाने का विचार किया। वह उस चिंतन प्रक्रिया से निकला जिसका संबंध अतीत और सामयिक चुनौतियों से था। एक प्रक्रिया से गुजर कर वह अधिकार पत्र तैयार हुआ, जिसमें भारत

की विविधता, राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की प्रेरणाएँ और किए गए वादे के आधार पर व्यापक अधिकारों का समावेश किया गया। जिसमें नागरिक अधिकार और समूहों के अधिकार शामिल किए गए हैं।

अल्पसंख्यक अधिकारों की उपसमिति 27 फरवरी, 1947 को बनी। उसे सलाहकार समिति ने बनाया। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन उसका गठन किया गया। इस उपसमिति की पहली बैठक उसी दिन हुई। उसके बाद दो बैठकें अप्रैल और जुलाई में हुई। जिसमें मुस्लिम लीग अनुपस्थित थी। उपसमिति का कार्य कठिन था। उसकी प्रारंभिक बैठक में सी. राजगोपालाचारी का विचार था कि राजनैतिक अल्पसंख्यकों पर विचार हो। लेकिन उनके सुझाव पर सहमति नहीं बनी। उपसमिति ने के.एम. मुंशी की प्रश्नावली को स्वीकार किया। प्रश्नावली में 6 प्रश्न थे। यह अल्पसंख्यक अधिकारों पर विचार का पहला चरण था। उस समय संविधान सभा में परिस्थिति द्वंद की थी। संविधान सभा कैबिनेट मिशन योजना के अधीन काम कर रही थी। 3 जून, 1947 के बाद दूसरा चरण प्रारंभ हुआ। कांग्रेस के सामने दो बड़े प्रश्न थे। पहला कि अल्पसंख्यकों को भारत में घुलने-मिलने के अवसर दें और उन्हें संवैधानिक प्रावधान का आश्वासन दें। दूसरा कि कांग्रेस अपने मूल दावे को भी कायम रखना चाहती थी, वह यह कि कांग्रेस पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है। जिसमें अल्पसंख्यक भी सम्मिलित हैं।

अल्पसंख्यक मामले में संविधान सभा एक मौलिक प्रश्न से दो-चार थी। वह यह कि क्या सामाजिक-धार्मिक समस्याओं को राज्य के हस्तक्षेप से सुलझाना संभव है? ये समस्याएँ उसी तरह से हैं जैसे चाक जिस कील पर घूमता है वह स्थिर रहती है। ठीक इसी तरह अल्पसंख्यक प्रश्न है। जिस पर चाक चक्कर लगा रहा है। उस चाक पर क्या बन रहा है, यह वह कारीगर तय करता है जिसके हाथ में मिट्टी का लोंदा है। संविधान सभा की समस्या अगर यही होती तो समाधान निकल आता। क्योंकि मिट्टी का लोंदा संविधान सभा की अल्पसंख्यक सलाहकार समिति और उसकी उपसमिति के सदस्यों के हाथ में था। वे उससे चाक पर सौहार्द और राष्ट्रीयता की मूर्ति बना लेते। उनका प्रयास भी यही था। लेकिन संविधान सभा के पास जो चाक था उसकी कील स्थिर नहीं थी। वह आज भी नहीं है। इसका कारण है। कारण यह है कि अल्पसंख्यक सिर्फ वे ही नहीं हैं जिन्हें एक श्रेणी में डाला जा सके। भारत में ब्रिटिश राज ने जो अनीति चलाई उससे अल्पसंख्यक मोटे तौर पर दो समूह में विभाजित हैं। एक समूह में वे हैं जिन्हें अब्राहमिक श्रेणी में डाल सकते हैं। इसमें ईसाई, मुसलमान और यहूदी हैं।

दूसरे समूह में हिंदू समाज के वे पंथ हैं जो समाज सुधार के धार्मिक आंदोलन से बने और विकसित हुए। इसमें मुख्यत: सिख और बौद्ध तब थे। अब उसमें जैन भी शामिल हो गए हैं। सुप्रीम कोर्ट की परिभाषा में ये सभी हिंदू हैं। संविधान सभा की अधिकार समिति को उन समुदायों का भी संरक्षण करना था जो हिंदू समाज के अंग हैं लेकिन जाति और जमात के रूप में अलग-थलग कर दिए गए थे। इस श्रेणी में अनुसूचित जाति और जनजाति समूह आते हैं।

संविधान सभा का वातावरण 3 जून, 1947 से बदल गया। जहाँ पहले उसके हाथ बँधे हुए थे, ब्रिटिश कैबिनेट मिशन योजना का उस पर बंधन था, वहाँ नई परिस्थिति में संविधान सभा अपनी मालिक थी। वह स्वाधीन होकर अपने निर्णय कर सकती थी। स्वाधीनता के बाद तकनीकी तौर पर संविधान सभा संप्रभु हो गई। लेकिन उस पर औपनिवेशिकता की काली छाया तो बनी हुई ही रही। अपने स्वतंत्र विवेक से संविधान निर्माता जो करना चाहते थे, वह लोकतांत्रिक पुनर्रचना का महत्तर लक्ष्य था। वे सामाजिक समानता के सिद्धांत पर आधारित नया समाज बनाना चाहते थे। उनके सामने विकट प्रश्न था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने जो कुचालें चली थीं उनसे कैसे संविधान को बचा लें और रास्ता निकालें। झगड़े का बीज वास्तव में 'हिंदू' शब्द की साम्राज्यवादी अवधारणा में है। हिंदू एक भूसांस्कृतिक अवधारणा है। इसमें ही राष्ट्र की सौमनस्यता का मर्म छिपा है। जिस दिन औपनिवेशिकता के हित में हिंदू शब्द को भूसांस्कृतिक अवधारणा के धरातल से नीचे पंथ के बराबर ला दिया गया और उसे इस्लाम और ईसाई मजहबों की श्रेणी में रखा गया, उसी दिन 'अल्पसंख्यक' शब्द में चमक और चुंबक दोनों जुड़ गए। क्योंकि अंग्रेजों ने हिंदू धर्म से बौद्ध, जैन, सिख, आर्यसमाज आदि धाराओं को अलग कर दिया। इससे हिंदू धर्म ब्राह्मण या पौराणिक धर्म बनकर रह गया। यह ऐतिहासिक विकृति थी। जिसकी जड़ें अंग्रेजों की जनगणना नीति में मिलती हैं। उसे एक हद तक डा. भीमराव अंबेडकर ने दूर किया और हिंदू शब्द की संवैधानिक परिभाषा में सिख, बौद्ध और जैन को शामिल कर लिया, जिसे सुप्रीम कोर्ट ने भी अपने अनेक फैसलों में सुनाया है और

हिंदू धर्म को परिभाषित किया है।

अंग्रेजों ने जो संवैधानिक विरासत संविधान सभा को दी थी उसका इतिहास जाने बगैर अल्पसंख्यक समस्या को पूर्णता में समझना कठिन है। उस संवैधानिक विरासत का संबंध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध काल से है। इसे सटीक शब्दों में कहें तो प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् अंग्रेजों ने भारतीय समाज को विषमांगी समूह के रूप में देखना प्रारंभ किया। कोई ऊँचा है तो कोई नीचा है। यह थी उनकी दृष्टि, समझ और साम्राज्य को बचाने की दीर्घकालीन योजना। इसी दृष्टि से उन्होंने भारत के समाज को विशिष्ट वर्गों-धार्मिक अल्पसंख्यकों और निम्न जातियों में बाँटा। इसका उत्तरोत्तर फैलाव किया। वैसी अनेक नीतियाँ बनाई और उन्हें लागू किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने 'दलित वर्गों' की सूची तैयार करनी प्रारंभ कर दी। अंग्रेजों ने एक मनोविज्ञान की रचना की। उसी को फैलाया और दावा किया कि दलित समूह की बेहतरी के लिए विशेष अवसर के रूप में छात्रवृत्तियाँ, विशेष विद्यालय और अन्य कार्यक्रम प्रारंभ किए जा रहे हैं। कुछ किए भी गए। दूसरी तरफ सरकार और प्रशासन में ब्राह्मण प्रभुत्व की भावना एक समूह में जगाई। आंदोलन को हवा दी। फिर यह कहा कि ऐसे बढ़ते हुए आंदोलनों की भावनाओं को शांत करने की दृष्टि से कदम के रूप में आरक्षण आरंभ किए जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि मुंबई में ब्राह्मणों, मारवाड़ियों, बनियों, पारसियों और ईसाइयों को छोड़कर अन्य सबके लिए स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था हुई। 1927 में मद्रास प्रेसीडेंसी में सरकार ने प्रत्येक 12 नौकरियों में 5 स्थान गैर-ब्राह्मण हिंदुओं के लिए, ब्राह्मणों, ईसाइयों और मुसलमानों में प्रत्येक के लिए 2-2 तथा अन्य के लिए एक स्थान आरक्षित किया। बड़ौदा, ट्रावनकोर और कोल्हापुर जैसे कुछ उदार राज्यों ने भी समान प्रावधान प्रारंभ किए। कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में साहूजी महाराज ने अपने प्रशासन में 50 प्रतिशत स्थान गैर-ब्राह्मणों के लिए आरक्षित किए।'

इसी तरह ब्रिटिश सरकार ने सिख समुदाय को अल्पसंख्यक श्रेणी में डाला। भारत विभाजन के समय पंजाब में सिख नेताओं ने मुस्लिम लीग के दावों को लगातार चुनौती दी। कैबिनेट मिशन के समय भी पंजाब में कांग्रेस और सिख ने लीग के खिलाफ एक साझा मोर्चा बनाया। अकाली पार्टी की ओर से मास्टर तारा सिंह ने कैबिनेट मिशन को एक ज्ञापन सौंपा। जिसमें माँग की गई थी कि एक ही संविधान सभा हो। भारत का विभाजन नहीं होना चाहिए। उस ज्ञापन में प्रांतीय स्वायत्तता का इस आधार पर विरोध था कि वह जिस तरह कम्युनल अवार्ड में बताया गया है उससे एक असहाय स्थिति सिखों के लिए पैदा हो जाएगी। हिंदू समाज की जाति व्यवस्था की विकृतियों ने भी अंग्रेजों को अपनी चालें चलने के अवसर दिए। इसे दो अवसरों पर खूब उभारा गया। पहला अवसर था जब 1935 का भारत अधि नियम आया। उसके तहत राज्यों में सरकार बनी। उस समय दो दल थे जो कांग्रेस से प्रतिद्वंदिता कर रहे थे और अनुसूचित जाति समूह के हितों को अभिव्यक्त कर रहे थे। वे थे - शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन और जस्टिस पार्टी। गोलमेज सम्मेलनों में अनुसूचित जाति के लिए उसी तरह अलग निर्वाचन क्षेत्र होना चाहिए जैसा मुसलमानों के लिए था।

ब्रिटिश सरकार ने सिख समुदाय को अल्पसंख्यक श्रेणी में डाला। भारत विभाजन के समय पंजाब में सिख नेताओं ने मुस्लिम लीग के दावों को लगातार चुनौती दी। कैबिनेट मिशन के समय भी पंजाब में कांग्रेस और सिख ने लीग के खिलाफ एक साझा मोर्चा बनाया। अकाली पार्टी की ओर से मास्टर तारा सिंह ने कैबिनेट मिशन को एक ज्ञापन सौंपा। जिसमें माँग की गई थी कि एक ही संविधान सभा हो। भारत का विभाजन नहीं होना चाहिए

संविधान सभा इस बात से अवगत थी कि अनेक समूह अलग-अलग तर्कों से आरक्षण को अपनी समस्याओं का रामबाण समझते हैं। ऐसे नेताओं में डा. बी.आर. अंबेडकर भी थे जो समझते थे कि आरक्षण से उन्हें फायदा होगा जो प्रगति की राह में पीछे छूट गए हैं। अंग्रेजों ने केवल विधायी निकायों में ही पहले स्थान आरक्षित किए थे परंतु 1943 में सेवाओं में भी आरक्षण लागू हो गया। तदनुसार, खुली प्रतियोगिता के माध्यम से की जाने वाली सीधी भर्ती में 8.33 प्रतिशत पद अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित थे। 1943 में जारी किए गए इन अनुदेशों को सरकारी सेवाओं में आरक्षण का मूल कहा जा सकता है। इस पृष्ठभूमि को समझे बगैर अल्पसंख्यक समस्या के बढ़ते जाने का बुनियादी कारण नहीं जाना जा सकता।

प्रश्न अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का था। संविधान सभा का नेतृत्व जहाँ अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए वचनबद्ध था, वहीं अंग्रेजों की पृथकतावादी नीतियों को सदा के लिए समाप्त करने को भी दृढ़संकल्प था। उस समय अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के दो रूप सामने आए। इसमें पहला यह था कि धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा होनी चाहिए। इसे मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया गया। दूसरा रूप था, जिसमें सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार आते हैं। इसमें ही अल्पसंख्यकों को अपनी लिपि व संस्कृति जैसे विशेष अधिकार भी दिए गए। उन अधिकारों का संविधान में प्रावधान किया गया। इससे अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षिक संस्थाओं के संरक्षण का अधिकार भी प्रदान किया गया। ऐसी माँग पुरानी थी। जो संविधान निर्माण के समय भी अपनी जगह कायम थी। इस प्रकार के संरक्षण की माँग में बौद्ध, जैन, ईसाई, सनातनी, शिया, हरिजन, कुमाउनी, भाषाई समूह भी सक्रिय थे। इन समूहों ने संविधान सभा का ध्यान अपने ज्ञापनों में खींचा। उनके ज्ञापनों में अपनी समस्याओं पर विशेष ध्यान दिए जाने और हितों के संरक्षण की प्रार्थना की गई थी।

हमें याद रखना चाहिए कि संविधान सभा की परामर्श समिति तथा उप-समितियों ने इन भावनाओं पर यथोचित ध्यान दिया था। उनका कहना था कि सभा की सदस्यता में अल्पसंख्यकों के विचारों को भलीभाँति प्रतिनिधित्व दिया गया है। अधिकारों की उप-समिति ने मार्च, 1947 में अल्पसंख्यक समुदाय के नेताओं को एक प्रश्नावली भेजी

जिसमें उनसे यह पूछा गया था कि उनके विचार से समुदाय की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य प्रकार की सुरक्षा के लिए संविधान में क्या उपाय किए जाने चाहिए। इस प्रश्नावली को के. एम. मुंशी ने तैयार किया था। अप्रैल 1947 की शुरूआत में उप-समिति ने प्रश्नावली के प्रत्युत्तर में मिले प्रस्तावों तथा मुंशी द्वारा तैयार किए गए अधिकारों के मसौदे को मॉडल मानते हुए अल्पसंख्यकों के अधिकारों की एक सूची तैयार की। उसे परामर्श समिति को सौंपे जाने वाली अपनी रिपोर्ट में शामिल किया। अल्पसंख्यकों से संबंधित उप-समिति ने एच.सी. मुखर्जी की अध्यक्षता में 17,18 और 19 अप्रैल को रिपोर्ट पर विचार करने के बाद अपनी रिपोर्ट परामर्श समिति को सौंप दी। अधिकारों की उप-समिति द्वारा प्रस्तावित अनुशंसाओं में इस रिपोर्ट ने ऐसे बदलाव बहुत कम किए थे जिन्हें तात्त्विक महत्व का कहा जा सके।

अब्राहमिक समूह के अल्पसंख्यकों में मुस्लिम, यहूदी, ईसाई आते हैं। इस समूह के दो रंग-ढंग हैं। एक यह कि मुस्लिम अपनी पहचान पर ज्यादा जोर देते हैं। दूसरे में ईसाई हैं, जो धर्मांतरण की तरकीब खोजने के लिए संवैधानिक संरक्षण का सहारा लेते हैं। संविधान सभा के विभिन्न चरणों में हुई बहस से ये प्रवृतियाँ प्रकट हुई। संविधान के प्रावधानों से जो अधिकार मिले उन अधिकारों की पेंचीदगी का संबंध इन प्रवृत्तियों से भी है। संविधान निर्माताओं ने कुछ प्रश्न अपनी वरीयता में रखे और कुछ प्रश्नों को भविष्य पर छोड़ दिया। उस परिस्थिति में ऐसा करना उन्हें आवश्यक लगा होगा। संविधान के प्रावधानों को देखें तो स्पष्ट है कि नागरिक अधिकारों में परस्पर विरोध है। उनकी सीमा निर्धारित की गई है। कहीं-कहीं अस्पष्टता भी है। जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार के क्षेत्र आते हैं। डा. भीमराव अंबेडकर ने मूल अधिकारों से संबंधित संविधान के भाग-तीन को सबसे अधिक मंथन वाला प्रकरण बताया था। वे जब यह कह रहे थे तो उन्हें यह स्मरण था कि इन अधिकारों पर 38 दिनों तक चर्चा हुई थी। उपसमिति में 11 दिनों तक, सलाहकार समिति में दो दिन तक और संविधान सभा में 25 दिनों तक विचार मंथन चला। इस प्रकार वह प्रक्रिया पूरी हुई।

यहाँ उस कारक का भी उल्लेख आवश्यक है जो संविधान सभा पर अपना प्रभाव बनाए हुए था। वह वैश्विक प्रभाव है। जिसका इतिहास प्रथम विश्व युद्ध के बाद से शुरू होता है। वैश्विक स्तर पर अल्पसंख्यक को परिभाषित करने के प्रयास तभी से समय-समय पर हुए। जिसकी एक परिणति संविधान निर्माण काल में ही हुई। उसी समय संयुक्त राष्ट्र ने 'मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणाएँ' कीं। उसका भी संविधान निर्माताओं पर बड़ा प्रभाव था। लेकिन जिस दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने बिल्कुल नई परिस्थिति पैदा कर दी, वह भारत के विभाजन की त्रासदी थी। दो राष्ट्रों का सिद्धांत स्वीकृत हो गया था। उसने संविधान सभा के सामने नई चुनौती उपस्थित कर दी। वह बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की ऐसी दीवार थी जो अलंघ्य सरीखी थी। संविधान सभा को उसमें दरवाजा बनाने के उपाय करने पड़े। फिर भी छः अक्षरों का यह अल्पसंख्यक शब्द न केवल भारत बल्कि पूरी दुनिया में नई चिंता, चिंतन और बड़ी उलझन का विषय बनता जा रहा है। जिस अल्पसंख्यक समस्या को ब्रिटिश नीति की विषबेल समझकर संविधान निर्माताओं ने अपने प्रयास से हल कर लिया था, वह पुनः एक संवैधानिक प्रश्न के रूप में सुप्रीम कोर्ट के दरवाजे पर लगातार दस्तक दे रहा है।

इसका एक बड़ा कारण इसकी अस्पष्ट अवधारणा है। लैटिन शब्द है-'माइनर'। जिसमें इटि (आई.टी.वाई.) के जुड़ जाने से माइनारिटी बनता है। इस शब्द का सक्रिय इतिहास सौ साल ही पुराना है। प्रथम विश्व युद्ध से पहले अमेरिका और यूरोप के शब्दकोश में इस शब्द के अर्थ को संख्या, राजनीति और कानून के संदर्भ में बताया जाता रहा। बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में माइनारिटी शब्द पर कोई लेख उपलब्ध नहीं था। पेरिस के वारसिली पैलेस में समझौते से लीग ऑफ नेशंस ने माइनारिटी को पहली बार परिभाषित करने के प्रयास किया। उस परिभाषा में माइनारिटी उसे कहा गया जो किसी देश की बहुसंख्यक आबादी से धर्म, जाति और भाषा से अलग हो। उसी समय से यह शब्द राजनैतिक विमर्श में नए-नए रूपों में आता रहा है। वह क्रम जारी है। दुनिया के विभिन्न मंचों पर इस पर बहस जो छिड़ी वह सुलझने के बजाए उलझती गई।

पहली बार एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के 1953 में छपे संस्करण में अल्पसंख्यक पर एक लेख है। उसमें एक परिभाषा है। 'वह समुदाय जो अपने को भाषा, पंथ और भावना से उस देश के बहुसंख्यक से भिन्न मानता है।' यह एक वस्तुपरक और मनोवैज्ञानिक परिभाषा है। जिसका न्याय से कोई संबंध नहीं है। संयुक्त राष्ट्र ने भी इसकी एक परिभाषा दी है। वह यह कि अल्पसंख्यक एक नान डामिनेंट ग्रुप होता है, जो अपनी पहचान, भाषा और पंथ को बहुसंख्यक से अलग बनाए रखना चाहता है। इसमें दो बातें हैं, विशेष पहचान और बहुसंख्यक से विभिन्नता। समाज विज्ञान की विश्व कांग्रेस स्विटजरलैंड में हुई। 1950 का साल था। उसमें प्रो. लुइस विर्थ ने एक परिभाषा दी। वह पहले की परिभाषाओं से अलग है। उनकी बात मानें तो जाति, संस्कृति के आधार पर जिस समुदाय को हीन माना जाता है वह अल्पसंख्यक है। ये कुछ नमूने हैं जिससे

अब्राहमिक समूह के अल्पसंख्यकों में मुस्लिम, यहूदी, ईसाई आते हैं। इस समूह के दो रंग-ढंग हैं। एक यह कि मुस्लिम अपनी पहचान पर ज्यादा जोर देते हैं। दूसरे में ईसाई हैं, जो धर्मांतरण की तरकीब खोजने के लिए संवैधानिक संरक्षण का सहारा लेते हैं। संविधान सभा के विभिन्न चरणों में हुई बहस से ये प्रवृतियाँ प्रकट हुई। संविधान के प्रावधानों से जो अधिकार मिले उन अधिकारों की पेंचीदगी का संबंध इन प्रवृत्तियों से भी है। संविधान निर्माताओं ने कुछ प्रश्न अपनी वरीयता में रखे और कुछ प्रश्नों को भविष्य पर छोड़ दिया

जाना जा सकता है कि अल्पसंख्यक की कोई सर्वमान्य परिभाषा अब तक नहीं खोजी जा सकी है। भारत इससे भिन्न स्थिति में कैसे हो सकता है?

राष्ट्रीय धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट से एक नया और गंभीर प्रश्न पैदा हो गया है। आयोग की ऐसी यह पहली रिपोर्ट है। इस आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र थे। भारत सरकार ने 2004 में आयोग गठित करने की अधिसूचना जारी की। उसकी रिपोर्ट 2007 में आई। रिपोर्ट में शीर्षक है-'अल्पसंख्यक' से अभिप्राय। अर्थ और अभिप्राय, ये दो शब्द हैं। ये समानार्थी नहीं हैं। अर्थ स्पष्ट होता है, लेकिन अभिप्राय में अर्थ के अलावा कुछ और बातें भी होती हैं जिन्हें समझना पड़ता है। इसे ही अंग्रेजी के 'बिटविन दी लाइंस' मुहावरे से समझा जा सकता है। आयोग की रिपोर्ट में है कि 'भारत के संविधान में 'अल्पसंख्यक' शब्द या उसके बहुवचन का अनुच्छेद - 29 से 30, तथा 350क से 350ख में प्रयोग किया गया है, लेकिन कहीं भी इसे परिभाषित नहीं किया गया।' इस तरह अल्पसंख्यक आयोग ने ही यह प्रश्न उठाया कि 'अल्पसंख्यक' कौन है?

अब यह विषय सुप्रीम कोर्ट के विचाराधीन है। वैसे तो एक अल्पसंख्यक प्रश्न के मामले में सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ निर्णय सुना चुकी है। भारतीय संविधान की व्याख्या का विशेषाधिकार सुप्रीम कोर्ट को ही प्राप्त है। किसी प्रश्न पर अगर कहीं संवैधानिक उलझन उत्पन्न होती है तो उसके निर्णय को ही अंतिम माना जाता है। भारत में इसकी एक परंपरा विकसित हो गई है। भारतीय संविधान में जो स्थान सुप्रीम कोर्ट का है वैसा दुनिया के दूसरे किसी संविधान में नहीं है। इसी से जनहित याचिका का प्रचलन भी प्रारंभ हुआ। पाँच साल पहले एक जनहित याचिका सुप्रीम कोर्ट में दायर की गई। ऐसा कह सकते हैं कि सुप्रीम कोर्ट ने डेढ़ दशक पहले अपना निर्णय दे दिया था इसलिए सुप्रीम कोर्ट ने उचित समझा कि अल्पसंख्यक की परिभाषा का कार्य आयोग करे। इस आशय का सुप्रीम कोर्ट ने उसे निर्देश दिया। इसकी समय सीमा भी निर्धारित कर दी। वह तीन महीने थी। वे तीन महीने कब के गुजर चके हैं।

अल्पसंख्यक समस्या के मामले में संवैधानिक दृष्टि से यह एक नया मोड़ है। इससे इतनी बात तो साफ है कि अल्पसंख्यक पर नई बहस एक तल पर शुरू हो गई है। वैसे अल्पसंख्यक विषय के कई तल हैं। अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट भी इसे इन शब्दों में प्रस्तुत करती है - "धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के विशिष्ट गुणों पर उच्चतम न्यायालय ने अपने बहुत से निर्णयों के माध्यम से प्रकाश डाला है। टी ए पाई फाउंडेशन और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य के मामले में उसका निर्णय है कि भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यक संविधान के अनुच्छेद 30 के अधीन की गई अभिव्यक्ति 'अल्पसंख्यक' के तहत आते हैं। चूँकि भारत में राज्यों का पुनर्गठन अल्पसंख्यकों के निर्धारण के उद्देश्य से भाषाई आधार पर किया गया है, इसलिए यूनिट वह राज्य विशेष होगा न कि संपूर्ण भारत। इस प्रकार धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों को अनुच्छेद 30 के समतुल्य रखा गया है और उन पर राज्यवार विचार किया जाए।"

जो अल्पसंख्यक संबंधी प्रश्न आज विकराल होता जा रहा है उसके कई पहलू हैं। एक का संबंध संविधान के प्रावधानों से है। दूसरे का संबंध संसदीय राजनीति के व्यावहारिक और सत्ता राजनीति के तकाजों से है। तीसरे का संबंध सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों से है। जिनसे अल्पसंख्यक अधिकारों और सामाजिक समानता की परिस्थितिजन्य परिभाषा विकसित हो रही है। ये तो अल्पसंख्यक वृक्ष की शाखाएँ हैं। मूल है तना और उसकी गहरी जड़ें। आजादी के बाद अल्पसंख्यक प्रश्न का परिदृश्य तेजी से बदला है। भाषा और संस्कृति के संरक्षण की ओट में हिंदू समाज के पंथ भी अल्पसंख्यक बनने की होड़ में हैं

जो अल्पसंख्यक संबंधी प्रश्न आज विकराल होता जा रहा है उसके कई पहलू हैं। एक का संबंध संविधान के प्रावधानों से है। दूसरे का संबंध संसदीय राजनीति के व्यावहारिक और सत्ता राजनीति के तकाजों से है। तीसरे का संबंध सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों से है। जिनसे अल्पसंख्यक अधिकारों और सामाजिक समानता की परिस्थितिजन्य परिभाषा विकसित हो रही है। ये तो अल्पसंख्यक वृक्ष की शाखाएँ हैं। मूल है तना और उसकी गहरी जड़ें। आजादी के बाद अल्पसंख्यक प्रश्न का परिदृश्य तेजी से बदला है। भाषा और संस्कृति के संरक्षण की ओट में हिंदू समाज के पंथ भी अल्पसंख्यक बनने की होड़ में हैं। इसका करण संविधान में रखी गई दो परस्पर विरोधी कसौटियाँ हैं। पहली है, समानता का सिद्धांत। दूसरी है, विशेष अवसर का सिद्धांत। इसी तरह संविधान में दो तरह के संरक्षण की व्यवस्था है। एक, संवैधानिक। दो, प्रशासनिक। दुनिया के दूसरे संविधानों में अल्पसंख्यकों को कानून से संरक्षण देने की व्यवस्था की गई है।

इस समय वे प्रश्न खड़े हो गए हैं जिन्हें संविधान की व्याख्या करते समय शोधकर्ताओं ने उठाए थे। वे प्रश्न चार प्रकार के हैं। पहला कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम की धारा 2(सी) मनमानी, अतार्किक और संविधान के अनुच्छेद 14, 15 तथा 21 का उल्लंघन करती है। दूसरा तर्क यह है कि इस धारा में केंद्र सरकार को किसी भी समुदाय को अल्पसंख्यक घोषित करने की असीमित और मनमाने अधिकार दिए गए हैं। तीसरा यह है कि हिंदू जो राष्ट्रव्यापी आँकड़ों के अनुसार एक बहुसंख्यक समुदाय है, वह पूर्वोत्तर सहित अनेक राज्यों में अल्पसंख्यक है, जिसमें जम्मू-कश्मीर भी शामिल है। अंतिम यह है कि हिंदू समुदाय उन लाभों से वंचित है जो कि इन राज्यों में अल्पसंख्यक समुदायों के लिए मौजूद हैं। इन आधारों पर 'अल्पसंख्यक' शब्द की परिभाषा का प्रश्न उपस्थित हो गया है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम की धारा 2(सी) के तहत 23 अक्टूबर, 1993 को सरकार द्वारा जारी अधिसूचना में पाँच समुदायों मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी तथा बौद्ध को अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में मान्यता दी गई। 2014 में जैन समुदाय

को भी अल्पसंख्यक की श्रेणी में शामिल किया गया। इस समय नौ राज्यों में जैन भी अल्पसंख्यक दर्जे में हैं। विचारणीय विषय यह है कि अल्पसंख्यक बनने की होड़ क्यों लगी है? स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना हिंदू समाज के उत्थान और सुधार के लिए की थी। उस रामकृष्ण मिशन ने भी किंचित कारणों से अल्पसंख्यक दर्जा प्राप्त कर लिया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, बहुतायत है। इसका कारण जानना सरल है। वह यह है कि अल्पसंख्यक का दर्जा पाते ही संस्थाओं को सरकारी लालफीताशाही और भ्रष्ट नियंत्रण से थोड़ी राहत मिल जाती है। वे दमघोटू वातावरण से बाहर निकल जाती हैं।

उत्तर प्रदेश के अनुसूचित जाति का व्यक्ति राजस्थान में अनुसूचित जाति का नहीं माना जाता। जब प्रदेश बदलने के साथ उस व्यक्ति की अनुसूचित जाति, जनजाति या अन्य पिछड़ा वर्ग का सदस्य माने जाने की स्थिति बदल जाती है तो अल्पसंख्यक की स्थिति को बदलने में क्या समस्या है? एक लोकतांत्रिक बहुलवादी राजनीति में अल्पसंख्यक अधिकार आवश्यक हैं। एक विचारक ने ठीक ही लिखा है कि कोई भी लोकतंत्र लंबे समय तक जीवित नहीं रह सकता है जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों की मान्यता को अपने अस्तित्व के लिए मौलिक नहीं मानता है।

संविधान में अल्पसंख्यक शब्द को परिभाषित न करने का कारण उस समय की परिस्थितियाँ थीं लेकिन आज की परिस्थिति

मेरा मत है कि समस्या अल्पसंख्यक शब्द में नहीं है। इसके प्रति विभेदक दृष्टिकोण ने समस्या को बढ़ाया है और जटिल बनाया है। इससे एक मानसिकता निर्मित हुई है। इसका राज औपनिवेशिकता की राजनीति में छिपा है। यही समय है जब उस प्रतिगामी मानसिकता से मुक्ति पाई जा सकती है। यह विश्वास इसलिए है क्योंकि भारत नए युग में है। सोचने की जरूरत है कि क्या किया जाना चाहिए। इस संबंध में मेरा सुझाव है। एक, संविधान में अल्पसंख्यक की परिभाषा हो। दो, शासन के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो

के अनुसार, इसमें बदलाव आवश्यक है। भारत लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और लोक कल्याणकारी राज्य है। अत: सभी वर्गों के लोगों को गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार है। संविधान सभा ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए संविधान में भाषाई और धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यकों को संरक्षित करने की बात की लेकिन अल्पसंख्यक को परिभाषित करने से परहेज किया। बदलते परिदृश्य में अब समय आ गया है कि राष्ट्रीय स्तर पर नहीं बल्कि प्रादेशिक स्तर पर अल्पसंख्यकों को परिभाषित किया जाए, जिन राज्यों में जिस समुदाय के लोग सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक रूप से तथा जनसंख्या के आधार पर अल्पसंख्यक हैं, उन्हें अल्पसंख्यक का दर्जा दिया जाए।

निष्कर्ष

मेरा मत है कि समस्या अल्पसंख्यक शब्द में नहीं है। इसके प्रति विभेदक दृष्टिकोण ने समस्या को बढ़ाया है और जटिल बनाया है। इससे एक मानसिकता निर्मित हुई है। इसका राज औपनिवेशिकता की राजनीति में छिपा है। यही समय है जब उस प्रतिगामी मानसिकता से मुक्ति पाई जा सकती है। यह विश्वास इसलिए है क्योंकि भारत नए युग में है। सोचने की जरूरत है कि क्या किया जाना चाहिए। इस संबंध में मेरा सुझाव है। एक, संविधान में अल्पसंख्यक की परिभाषा हो। दो, शासन के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो। तीन, शासन पूरे भारतीय समाज को एक परिवार मानकर अल्पसंख्यक पर हर पहलू से विचार करे और अल्पसंख्यकों के संरक्षण का उचित वैधानिक प्रावधान करे। चार, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय बना रहे। उसके कार्य करने की ऐसी व्यवस्था बने जिसमें हर अल्पसंख्यक को आश्वासन मिल सके। पाँच, अल्पसंख्यक न तो धार्मिक आधार पर निर्धारित हो, न भाषाई आधार पर बल्कि उसका निर्धारण जनसंख्या के आधार पर हो। पूरा देश एक इकाई हो। लेकिन अल्पसंख्यक का निर्धारण स्थानीय स्तर पर हो।

संदर्भ

1. *माइनॉरिटी राइट्स इन द इंडियन कांस्टिट्यूएंट एसेंबली डिबेट्स*, 1946-1949, वर्किंग पेपर नं. 30, रोचना वाजपेयी
2. *राष्ट्रीय धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट*, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय, न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र, 2007
3. *कांस्टीट्यूएंट एसेंबली ऑफ इंडिया: स्प्रिंगबोर्ड आफ रिवोल्यूशन*, शिबानी किंकर चौबे
4. *भारतीय संविधान: रचना एवं कार्य*, शिबानी किंकर चौबे, अनुवाद के.वी. सिंह
5. *हमारा संविधान: भारत का संविधान और संवैधानिक विधि*, सुभाष काश्यप
6. *इंडिया'ज लिविंग कांस्टीट्यूशन: आइडियाज, प्रेक्टिसेज, कंट्रोवर्सीज*, सं.- जोया हसन, इ. श्रीधरन,आर. सुदर्शन
7. *बियांड सेकुलरिज्म*, द *राइटस आफ रिलीजस माइनारिटीज*, नीरा चंदोक
8. *आर्टिकल्स ऑफ फेथ: रिलीजन, सेकुलरिज्म ऐंड इंडियन सुप्रीम कोर्ट*, रणंजय सेन
9. *सोशल इनक्लूजन इन इंडिपेंडेंट इंडिया: डाइमेंशन ऐंड एप्रोचेज*, टी.के. ओमन
10. *माइनारिटी सेफगाड्र्स इन इंडिया*, कमलेश कुमार वाधवा
11. *बैटल्स हाफ वॉन: इंडियाज इंप्रोबेबल डेमोक्रेसी*, आशुतोष वार्ष्णेय
12. *इंडिया-सिंस 1950: सोसायटी, पालिटिक्स, इकोनॉमी एंड कल्चर*, संपादक-क्रिस्टोफर जेफरलेट
13. *ऐन इनक्वायरी इंटू इंडिया'ज माइनारिटी पॉलिसी एंड एनलिसिस ऑफ सोशियो इकोनामिक स्टेटस ऑफ मुस्लिम कम्युनिटी ऑफ इंडिया*, दुर्गानंद झा
14. *द फ्रेमिंग ऑफ इंडिया'ज कांस्टीट्यूशन: सेलेक्ट डाक्यूमेंट्स*, खंड- दो, बी. शिवाराव
15. *भारतीय संविधान सभा के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट*-लोकसभा सचिवालय

औपनिवेशिक भारत में अल्पसंख्यक वर्ग का निर्माण

प्रो. हिमांशु राय

अशराफ मुसलमान हमेशा यह मानते रहे कि वे भारत के शासक हैं और हिंदू उनकी प्रजा। 'एक व्यक्ति एक मत' प्रणाली की बात आते ही उन्हें यह भय सताने लगा कि कहीं उन्हें अपनी प्रजा से ही शासित न होना पड़े। इस भय से उपजी मुश्किलों पर एक नजर

मुस्लिम आक्रांताओं ने आठवीं शताब्दी में भारत में प्रवेश किया। इसके बाद से ही वे पंजाब, दिल्ली और भारत के अन्य भागों में फैलते गए जब तक 1858 में राजशाही का अंत नहीं हो गया। मुस्लिम शासकों ने इस्लामिक आक्रांताओं से पूर्व के आक्रांताओं की तरह अपनी पहचान को भारतीय धार्मिक पहचान में मिलाने की अपेक्षा अपने वैचारिक और दमनकारी शासकीय तंत्र द्वारा अपनी अलग इस्लामिक, धार्मिक पहचान को बनाया, संरक्षित किया और उसका विस्तार किया। इसके परिणामस्वरूप आंशिक रूप से भारतीय संस्कृति का इस्लामीकरण हुआ। परंतु भारतीयता को अरबी इस्लाम निगल न सका जो कि इस विचार के साथ जन्मा और फैला था कि ईश्वरीय ज्ञान उन्हीं को दिया गया है तथा अन्य धर्मों के लोग जाहिल हैं अर्थात विवेकहीन, ज्ञान और चेतनाविहीन हैं और उन्हें इस जाहिलिया (अज्ञानता) से बाहर निकालना है।[1] इसके द्वारा इस्लाम और उसके पैगंबर की सर्वश्रेष्ठता का संदेश देते हुए स्थापित किया गया कि काफिरों की अपेक्षा इनमें जागृत चेतना है।

मुस्लिम आक्रांता भारतीय मुस्लिम जनसंख्या का 2.5 से 3 प्रतिशत ही थे। वे तुर्क, इरानी, उज्बेक आदि थे जो कि शासक वर्ग का 70 प्रतिशत थे। मुस्लिम जनसंख्या का 5 प्रतिशत ही संभ्रांत शासक वर्ग था। विदेशी मूल के संभ्रांत शासक वर्ग का सभी धर्मांतरित भारतीय मुसलमानों के प्रति घृणाभाव था फिर चाहे वे 'अरजाल' हों या 'अजलाफ'। काफिर संभ्रांत हिंदुओं के प्रति उनका घृणाभाव और भी प्रबल था। विशेष रूप से सामान्य हिंदुओं के प्रति अधिक घृणा थी। अलबरूनी[2] ने 1030 में लिखा है, "वे (हिंदू) हम से हर तरह से भिन्न हैं।" और हिंदुओं और मुसलमानों में वैचारिक और भावात्मक खाई निरंतर बढ़ती जा रही है। उसने रेखांकित किया था, गजनी के मुहम्मद ने इस देश की समृद्धि को पूरी तरह नष्ट कर दिया था और अपने अद्भुत आक्रमणों के द्वारा हिंदुओं को रेत के कणों की तरह बिखेर दिया था। (पृ.10) उसने यह भी लिखा है कि मुहम्मद बिन कासिम हाथ में तलवार लिए सिंध के मार्ग से प्रवेश करके कन्नौज तक पहुँच गया था। अलबरूनी यह भी लिखता है कि हिंदू विज्ञान उन दूरस्थ स्थानों पर चला गया था जहाँ मुस्लिम आधिपत्य नहीं था। अलबरूनी ईरानी था जो कि गजनी में रहा था और वहाँ से भारत आकर छह वर्ष यहाँ रहा था। मुहम्मद के शासन संबंधी उसके वृत्तांत एक प्रत्यक्षदर्शी के वृतांत हैं। मुहम्मद ने राजधानी गजनी को भारत से लूटी संपदा से परिश्रमपूर्वक निर्मित किया था। (कांगड़ा के किले से ही उसने 136 मीट्रिक टन चाँदी लूटी थी) सुदूर पश्चिमी भारत में सामूहिक धर्म परिवर्तन होने लगे थे।[3] यहाँ बौद्धों की पर्याप्त जनसंख्या थी और ये अधिकतर दलित थे। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि भारत पर आक्रमण खलीफा उमर के समय से प्रारंभ हुए जब भारत पर आक्रमण न करने के प्रतिबंध को समाप्त किया गया और भारत पर आक्रमण प्रारंभ किए गए। 'पहला आक्रमण 644 में' हुआ जिसे रोक दिया गया।[4] अधिक सुनियोजित आक्रमण 710 में किया गया।[5] पैगंबर के समय में और खलीफाओं के समय में भी 636 तक, भारत पर आक्रमण की स्वीकृति नहीं थी क्योंकि इसे पूर्ण स्वाधीनता का स्थान माना जाता था।[6]

भारतीय मुसलमानों में अधिकतर (करीब 95 प्रतिशत तक), आधुनिक शब्दावली में कहें तो दलित अथवा अन्य पिछड़ा वर्ग से थे। ये धर्मांतरित तो हुए परंतु अपनी परंपरागत व्यावसायिक भूमिका ही निभाते रहे। हिंदुओं के

मुकाबले इनकी जनसंख्या का प्रतिशत 6 या 7 ही था। जनसंख्या की यह विषमता और लगातार होने वाले स्थानीय विद्रोहों के कारण ही अरबी-ईरानी संभ्रांत वर्ग द्वारा हिंदुओं के बलात् धर्मांतरण के प्रयास असफल होते रहे। परंतु फिर भी जो अरबी-ईरानी संस्कृति विदेशी आक्रांताओं के साथ भारत में प्रवेश कर गई थी, सदियों में स्थानीय मुसलमानों की संस्कृति में प्रवेश कर गई जो कि धर्मांतरित होकर अरबी संस्कृति की नकल करने लगे थे। अभारतीय मुस्लिम संभ्रान्त वर्ग (अशराफ) जो कि अपने को श्रेष्ठ मानते थे और भारतीय न होने पर गर्व करते थे और स्थानीय लोगों के प्रति घृणाभाव रखते थे यही वर्ग मुख्यत: भारत के विभाजन का कारण बना जबकि जनसंख्या की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी भारत के क्षेत्र मुस्लिम बहुल हो चुके थे।

भारतीय भूखंड में सूफी मत का प्रवेश और प्रसार भी, जो कि ईरान में निम्नवर्ग से आया था, इस कार्य में (धर्मांतरण) इनका सहायक बना। सूफी मत का प्रसार, शासकीय संभ्रांतवर्ग की मौन सहमति लिए था क्योंकि इससे इस संभ्रांत वर्ग के प्रति जनाक्रोश को भटकाने में सहायता मिलती थी।

स्वयं मतांतरण भी तलवार के जोर पर, करवाकर, सूफी प्रभाव और मदरसों की संगठित शक्ति का परिणाम था। सदियों से मुस्लिम इतिहासकार अपने दस्तावेजों में इस तथ्य को लिखते आए हैं। 16वीं शताब्दी में राजा सिहादी (जिसे राजा शीलादित्य भी कहा जाता है। को जेल में डाला गया और उसे इस्लाम स्वीकार करने के लिए विवश किया गया। वह किसी भी तरह इसे स्वीकार करने को तैयार न हुआ तो अत्यधिक दवाब डालकर उसे मतांतरित किया गया। राजनैतिक दवाब द्वारा राजपूतों को मतांतरण के लिए विवश किया गया।" यहाँ तक कि बल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य में भी मुसलमानों का चित्रण निष्ठुरतापूर्वक हुआ है। मतांतरित लोगों को लगता था कि ऐसा करने से उन्हें जीवन-यापन की अधिक सुविधाएँ मिलेंगी और स्तर बढ़ेगा। रॉबर्ट ई. एटन की रचनाओं से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है और तथा अनिरूद्ध रॉय भी इसकी पुष्टि करते हैं।[7] उनके राजनैतिक शासन की जड़ें जितनी फैलती और गहराती गईं उतना ही अधिक

दोनों धार्मिक समाजों में इतना अधिक अंतर था कि डेविड लोरेंजो ने भी यह अनुभव किया कि मध्यकालीन हिंदू भी मुसलमानों से दूरी बनाए रखना चाहता था। यह बात वार्ता साहित्य और अनिरुद्ध राय की रचनाओं से भी स्पष्ट हो जाती है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस्लामिक आचरण का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि सूफियों ने भी बल-प्रयोग अथवा स्वेच्छा से मतांतरण का समर्थन परिस्थितियों अथवा समय की आवश्यकता के अनुरूप किया। कश्मीर में हिंदुओं के साथ सतही रूप से अच्छे संबंध रखते हुए भी उन्होंने हिंदुओं के मंदिर गिराने का समर्थन किया

विदेशी आते गए और भारतीयों का मतांतरण बढ़ता गया और वे आने वाले इस संभ्रांत वर्ग की सांस्कृतिक जीवन-शैली की नकल करते थे। इसके परिणामस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों में भावात्मक और वैचारिक द्वेष बढ़ता गया[8] क्योंकि ऐसा होने से एक विदेशी संस्कृति से स्थानीय स्तर पर उनका सामना होने लगा। मतांतरित लोगों के नाम बदल जाते, उनके कर्मकांड, पूजा-पद्धति, धर्मग्रंथ, वर्णमाला, वस्त्र, भोजन आदि में बदलाव आ जाता और वे अरबों की तरह व्यवहार करने लगते। इससे वे अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाते और अपने गाँव अथवा परिवेश में पराए हो जाते। भारतीयों की अपेक्षा वे अरबी, ईरानी, तुर्क हो जाते। इनमें शत्रुता का भाव इतना गहरा था कि 17वीं शताब्दी में जब दारा शिकोह दिल्ली की गद्दी के लिए संघर्ष कर रहा था तब मुसलमानों का एक वर्ग अनुभव करता था कि, "यदि दारा शिकोह को गद्दी मिल जाती है, और वह सत्ता प्राप्त कर लेता है तो इस्लाम का मूलभूत आधार खतरे में पड़ जाएगा तथा इस्लाम में उपदेशों का स्थान विसंगति और विधर्मिता ले लेंगे।"[9] क्योंकि दारा शिकोह को हिंदुओं और अधर्मियों के प्रति नर्मदिल और सहनशील माना जाता था। उसने उपनिषदों का अरबी में अनुवाद करवाया था और उसका मानना था कि वेदांतिक हिंदूमत और इस्लाम केवल नाम से ही भिन्न हैं, वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है, उनके इस विचार को अधिकांश तत्कालीन विचारकों ने नकार दिया था।[10]

दानों धार्मिक समाजों में इतना अधिक अंतर था कि डेविड लोरेंजो ने भी यह अनुभव किया कि मध्यकालीन हिंदू भी मुसलमानों से दूरी बनाए रखना चाहता था।[11] यह बात वार्ता साहित्य और अनिरुद्ध राय की रचनाओं से भी स्पष्ट हो जाती है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस्लामिक आचरण का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि सूफियों ने भी बल-प्रयोग अथवा स्वेच्छा से मतांतरण का समर्थन परिस्थितियों अथवा समय की आवश्यकता के अनुरूप किया। कश्मीर में हिंदुओं के साथ सतही रूप से अच्छे संबंध रखते हुए भी उन्होंने हिंदुओं के मंदिर गिराने का समर्थन किया। बंगाल में उन्होंने बलात मतांतरण का समर्थन किया और पांडुआ के निकट खानकाह बनाने के लिए एक हिंदू मंदिर को गिरवा दिया।[12] 1676 में ऐसी स्थिति को देखकर टेवरनियर भी हैरान रह गया था।[13]

भारत में मूर्तिपूजकों की संख्या इतनी अधिक है कि एक मुसलमान के समक्ष पाँच या छह अन्य जातियों के लोग हैं।

यह देख पाना अत्यधिक आश्चर्यजनक है कि कैसे इतना बड़ा जनसूह मुट्ठी भर लोगों के अधीन रह सका और मुसलमान शासकों की मुलामी स्वीकार करता रहा।

वास्तव में सूफीमत उस दाई की तरह था जो कि इस्लाम के विस्तार में उसकी उदार वैचारिकता का प्रयोग करता रहा। इसके कारण निर्धन वर्ग में इस्लाम की स्वीकार्यता बढ़ी क्योंकि सूफीमत ईरान में 9वीं शताब्दी में निम्न वर्ग से उभरा था और 11वीं शताब्दी से भारत में फैलने लगा।[14] इसके प्रतिपादकों में एक अमीर खुसरो भी थे, जो भारत में पैदा हुए और जिनके पिता बल्ख से भारत आए थे। खुसरो ने भारत की प्रशंसा अपनी मातृभूमि और स्वर्ग के रूप में की है। उसने संस्कृत को अरबी को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं से श्रेष्ठ माना तथा हिंदवी

को अपनी मातृभाषा कहा।[15] परंतु उनकी अनेक रचनाओं में इस्लाम का गौरवगान और हिंदुत्व के प्रति घृणाभाव भी है। उदाहरण के लिए चिदंबरम मंदिर के वर्णन में वह कहता है 'अधर्मियों' की औरतें अपनी योनि को महादेव के लिंग पर रगड़ती हैं अथवा सोमनाथ के विषय में वह कहता है कि 'अधर्मियों' का मक्का, इसलाम का मदीना बन गया। एक अन्य स्थान पर वह इस्लाम की विजय यात्रा का वर्णन करता है और तलवार के बल पर अधर्मियों के दमन की बात करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके मन में हिंदुओं के प्रति घृणा भाव था। जिनके विषय में वह सोचता था कि वे तुर्कों[16] की सेवा के लिए ही हैं। मुस्लिम शासकों के संपूर्ण कार्यकाल में वाद-विवाद का निरंतर एक ही विषय रहा, वह था 'इस्लाम अथवा मृत्यु का वरण'।[17]

इस्लाम के झंडे तले स्थानीय मतांतरित लोगों को अरबों-तुर्कों में समाहित किया गया। परंतु अरबों-तुर्कों ने मतांतरित लोगों को कभी भी अपना नहीं माना। इसकी अपेक्षा उन्हें राज्य के सेवक और शासकों के अधीनस्थ सेनाकर्मी ही माना गया। यहाँ तक कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उर्दू, हिंदवी अथवा हिंदुस्तानी में रचे गए साहित्य को फारसी रचनाओं से घटिया माना जाता था। भारत में किसी फारसी रचनाओं को ईरान में रची फारसी रचनाओं के सामने अनदेखा किया जाता था।[18] इसके समानांतर भक्ति आंदोलन का विकास हुआ जिसमें भारतीय मेधा अपने श्रेष्ठतम् रूप में प्रकट हुई जो कि मूलतः इस्लामिक मुठभेड़ का परिणाम थी। अधिकांश भक्त कवियों ने वसवा, वामना, ज्ञानबाई से शंकरदेव तक, तुकाराम, कबीर और तुलसी आदि ने अपनी स्थानीय बोलियों और भाषाओं में साहित्य-रचना की। यह साहित्य की ऐसी शाखा थी जिसमें मौलिक साहित्य का सृजन हुआ।

मुस्लिम शासन अपने साथ जनानखाने की स्त्रियों के लिए बुर्का लेकर भी आया जिसका प्रचलन समाज में नीचे तक हुआ। कामकाजी महिलाएँ इससे अपेक्षाकृत मुक्त रहीं। खेतों में मुँह ढककर काम करना उनके लिए संभव नहीं था। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि इसके व्यापक क्षेत्रीय तथा उपक्षेत्रीय रूप भी थे। जनजातीय क्षेत्र इससे मुक्त थे। यह सती प्रथा से भी मुक्त थे। सती संभ्रांत वर्ग में ही अधिक प्रचलित थी। यहाँ भी यह बलात् होने की अपेक्षा स्वैच्छिक थी। अनेक स्थितियों में दवाब भी डाला जाता था परंतु ऐसा नियम नहीं था।[19] सती होना अनिवार्य नहीं था और साथ ही इसमें अनेक क्षेत्रीय विभिन्नताएँ थीं। दक्षिण भारत और उत्तरपूर्वी भारत इससे अपेक्षाकृत मुक्त था। यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि 'सती', 'जौहर' नहीं थी, यह दोनों भिन्न सामाजिक घटनाएँ थीं। जौहर हिंदू राजकुमारियों द्वारा उस समय किया जाता था जिस समय उनके राजकुमार युद्ध में पराजित हो जाते थे और वे अपने सम्मान की रक्षा के लिए अपना जीवन समाप्त कर देती थीं। यूरोपीय और अरब विदेशी यात्री जो विभिन्न रूपों में वर्षों तक भारत में रहे उन्होंने सती प्रथा के विभिन्न रूपों स्त्रियों के सामाजिक स्तर, ग्रामीण दलित महिलाओं की स्थिति, कृषकों और शासकवर्ग के विषय में विस्तार से लिखा है।

मुस्लिम राजवंश सदियों तक बदलते रहे परंतु राज्य-व्यवस्था ऊपर बताए अनुसार वैसी ही बनी रही और उसमें कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। शासकों ने अपने राजचिन्हों में विभिन्न भारतीय प्रतीकों को ग्रहण किया परंतु एक पराये देश में अल्पसंख्यक शासक वर्ग होने की असुरक्षा की भावना उनका पीछा करती रही है। हिंदुओं की संख्या इतनी अधिक है कि मुस्लिम उनमें नमक के समान हैं। ज्यों ही मुस्लिम सेना शक्तिशाली होगी तब मैं उन्हें 'इस्लाम' या मृत्यु में से एक को चुनने को कहूंगा।[20] मुस्लिम संभ्रांत वर्ग 18वीं शताब्दी तक आक्रांता के रूप में भारत में आता रहा और उनमें शासक होने की भावना 19वीं शताब्दी तक बनी रही जो कि सर सैय्यद अहमद खां की रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है[21] और रहमतुल्ला एम. सयानी के 1896 में कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में भी झलकती है। सर सैयद अहमद खां ने स्पष्ट रूप से कहा था, 'मुसलमान कभी भी हिंदुओं को अपना शासक स्वीकार नहीं कर सकते।' यह सब कुछ होते हुए भी अजलाफ और अरजाल जो कि मतांतरित भारतीय थे उनमें सामान्य आचरण का भेद बना रहा।

सर सैयद अहमद खान का तर्क था कि मुसलमान अलग कौम हैं और वे कभी भी हिंदुओं को अपना शासक स्वीकार नहीं कर सकते। यह भी कहा कि "वे भारत के पूर्वशासकों की संतान हैं और विरासत में उन्हें जो गौरव प्राप्त हुआ है उसके लिए वे अपने को कुर्बान करने को तैयार हैं। हम वे हैं जिन्होंने भारत पर 600 से 700 वर्ष तक राज किया है - हममें उनका रक्त प्रवाहित हो रहा है जिन्होंने न केवल अरब को बल्कि

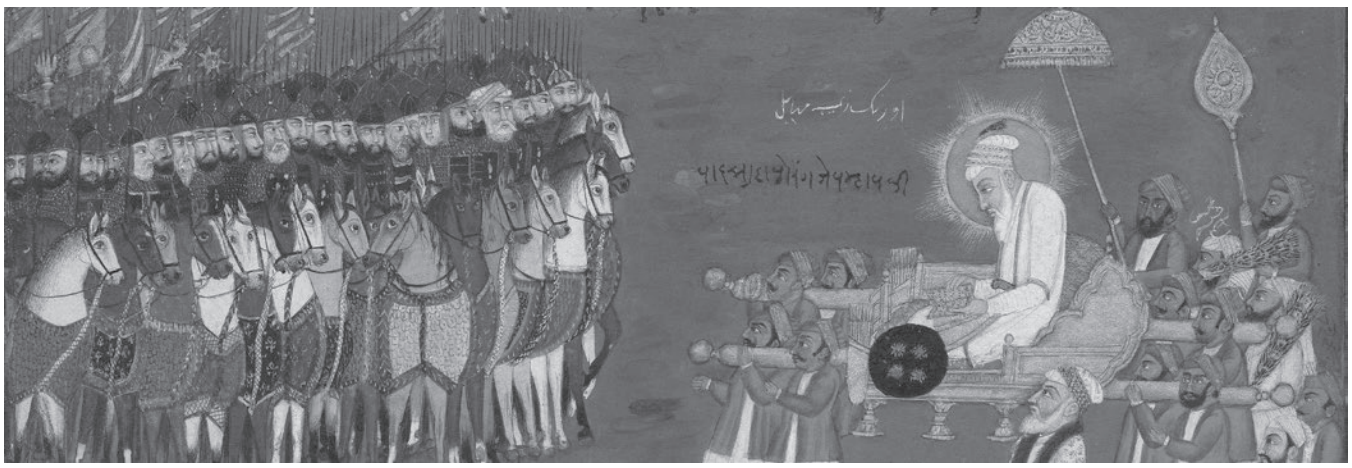

एशिया और यूरोप को भय से कँपा दिया था। हमारी कौम ने ही तलवार के बल पर सारे भारत को जीता था यद्यपि यहाँ के सारे लोग एक ही धर्म को मानने वाले थे।[22] इसका दुखद पहलू यह है कि 3 प्रतिशत विदेशी मुस्लिम आक्रांता 97 प्रतिशत भारतीय मतांतरित मुसलमानों पर अपनी संस्कृति थोपने में सफल हो गए। अपने दिन प्रतिदिन के व्यवहार में वे अपनी स्थानीय जड़ों से बँधे रहे। वे व्यापक रूप से फैले खेतों के मालिक बने रहे और उनके कानूनी अधिकार बने रहे। उन्हें व्यापक रूप से सामाजिक और वैयक्तिक आजादी का उपभोग करते रहे। विभिन्न जातियों की कुशल कारीगरी बनी रही, उनकी शादियाँ, सामाजिक संबंध जातियों के भीतर ही सीमित रहे तथा जजमानी प्रणाली चलती रही।

संक्षेप में भारतीय मुसलमानों का द्विभाजित अस्तित्व रहा। इस्लाम में मतांतरण से यह द्विभाजन बना। मुस्लिम आक्रांता और अप्रवासी अपने को अरब मानते रहे और इस पहचान का मतांतरित स्थानीय मुसलमानों में प्रवेश कर जाना और उनमें इसकी स्वीकृति ही सामाजिक उच्छेदन का मूल कारण बनी। धार्मिक शुद्धीकरण के अरबी और वहाबी इस्लाम पर जितना अधिक बल दिया गया उतना ही अधिक भारतीय मुसलमानों का सामाजिक और भारतीय जड़ों से उच्छेदन बढ़ा। यदि उन्होंने अरबी-सांस्कृतिक पहचान को ठुकरा दिया होता तो भारतीय सामाजिक ताने-बाने से उनका उच्छेदन नहीं हुआ होता। अपने इतिहास को नकारने और दूसरों के इतिहास को अपनाने से ही इतिहास में समस्याएँ पैदा होती हैं।

इस प्रकार अल्पसंख्यकों का प्रश्न 19वीं शताब्दी में, विशेष रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन के पश्चात् एक राजनैतिक समस्या के रूप में सामने आया।[23] कांग्रेस ने अपनी स्थापना के समय से ही शाही/वैधानिक/म्यूनिसिपल कौंसिल आदि औपनिवेशिक संस्थाओं में भारतीय प्रतिनिधित्व की माँग प्रारंभ कर दी थी जो कि नागरिकता के ब्रिटिश सिद्धांतों पर आधारित थी। कांग्रेस इसे भारत में राजनैतिक आधुनिकतावाद का साधन मानती थी जो कि ब्रिटेन के उदारतावाद

सर सैयद अहमद खान का तर्क था कि मुसलमान अलग कौम हैं और वे कभी भी हिंदुओं को अपना शासक स्वीकार नहीं कर सकते। यह भी कहा कि वे भारत के पूर्वशासकों की संतान हैं और विरासत में उन्हें जो गौरव प्राप्त हुआ है उसके लिए वे अपने को कुर्बान करने को तैयार हैं। हम वे हैं जिन्होंने भारत पर 600 से 700 वर्ष तक राज किया है - हममें उनका रक्त प्रवाहित हो रहा है जिन्होंने न केवल अरब को बल्कि एशिया और यूरोप को भय से कँपा दिया था

प्रजातंत्र और कुशल प्रशासन की अवधारणा पर आधारित था जिसका वास्तव में अर्थ था व्यक्तिवाद पर बल देना तथा धर्म जाति और क्षेत्र पर आधारित मूलभूत संबंधों की अपेक्षा कानून के राज्य पर बल देना। मुस्लिम संभ्रांत वर्ग, विशेषकर सर सैयद अहमद के नेतृत्व में विशिष्ट वर्ग और 'मोहमेडन एंग्लो-ओरिएंटल एसोसिएशन' (एम.ए.ओ.) इस माँग को हिंदू आधिपत्यवाद का एक साधन मानता था जो कि समरसतारहित समाज और 'अनिच्छुक अल्पसंख्यकों' के लिए उपयुक्त नहीं थी। वास्तव में उनकी सोच थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की विरोधी थी और उनके प्रति शत्रुता का भाव रखती थी। 1887 में, लखनऊ में दिए अपने एक भाषण में सर सैय्यद अहमद खान ने कहा था, "वे (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) ब्रिटिश 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' और 'हाउस ऑफ कॉमंस' की नकल करना चाहते हैं। चुने हुए सदस्य 'हाउस ऑफ कॉमंस' के सदस्यों के समान होंगे तथा नियुक्त किए गए सदस्य हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्यों के समान होंगे। आओ अब हम कल्पना करें कि वायसराय की कौंसिल इस तरह से गठित होती है। सबसे पहले हम यह कल्पना करें कि अमेरिका की तरह सभी को वयस्क मताधिकार है तथा हर व्यक्ति यथा चमार आदि को भी मताधिकार है। अब कल्पना करें कि सभी मुसलमान, मुसलमान प्रतिनिधि के पक्ष में मत देते हैं और हिंदू, हिंदू प्रतिनिधि के पक्ष में मत देते हैं। यह स्पष्ट है कि हिंदू प्रतिनिधि को मुस्लिम प्रतिनिधि से चार गुणा वोट मिलेंगे क्योंकि हिंदुओं की संख्या चार गुणा है। इस तरह मुस्लिम अपने हितों की रक्षा कैसे कर सकते हैं?" उन्होंने श्रोताओं से यह प्रश्न पूछा और फिर स्वयं ही उसका उत्तर देते हुए कहा, "यह नियम बनाया जाए कि आधे हिंदू चुने जाएंगे और आधे मुसलमान तथा हिंदुओं को हिंदू और मुसलमानों को मुस्लिम मतदाता चुनेंगे।"[24]

इस प्रश्नोत्तर और सुझाव को एम.ओ.ए. डिफेंस एसोसिएशन द्वारा रचित 'ए मोहमेडन मेनीफेस्टो' से पुष्ट किया गया जिसमें कहा गया था "मुसलमानों की धारा सभाओं और नगरपालिकाओं में प्रतिनिधित्व पर विचार करते समय एसोसिएशन की माँग थी कि 'अल्पसंख्यकों को उपयुक्त प्रतिनिधित्व दिया जाए' तथा "मुस्लिम समाज को एक राजनैतिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाए जिसके अपने हित और भावनाएँ हैं।"[25] यह बात भी यहाँ ध्यान देने की है कि सर सैयद अहमद इस एसोसिएशन के प्रमुख सदस्य थे। वास्तव में उसके घर पर ही इसकी पहली बैठक हुई थी और इसकी नियमावली बनाने वाले सदस्यों में वे भी थे। उनके पक्ष में उन्होंने तर्क दिया था, कोई भी ऐसी शासकी प्रणाली स्थापित करने से पूर्व जो कि पूर्णतया बहुमत पर आधारित है, ऐसी व्यवस्था की पहली अनिवार्य शर्त यह होनी चाहिए कि मतदाताओं में जाति, धर्म, सामाजिक आचरण, रीति-रिवाज, आर्थिक अवस्था, राजनैतिक परंपराओं और इतिहास में स्पष्ट समरसता हो। दूसरे शब्दों में वयस्क मताधिकार अथवा प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था के मताधिकार में अनिवार्य रूप से यह शर्त शामिल है कि जनसंख्या में समरसता हो अर्थात मतदाताओं और जनसंख्या में ऊपर लक्षित बिंदुओं पर समानता हो तभी प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था लागू की जा सकती है और वह अच्छी और फलदायी

होगी।"[26] इसी प्रकार से पृथक मताधिकार की उनकी माँग इस विचार पर आधारित थी कि मुसलमान अलग कौम हैं और उन्हें हिंदुओं के बराबर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। "एक व्यक्ति, एक वोट के सिद्धांत से हिंदू आधिपत्य स्थापित होगा क्योंकि उनकी जनसंख्या बहुत अधिक है जिसके फलस्वरूप शक्ति-संबंध प्रभावित होंगे। यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया कि, 'मुसलमान, हिंदुओं को कभी अपना शासक स्वीकार नहीं करेंगे' और यह भी कि उन्हें विरासत में जो गौरव उनके पूर्वजों से, जो पहले भारत के शासक थे, मिला है उसकी रक्षा में वह बड़े से बड़ा बलिदान दे सकते हैं।" सर सैयद अहमद ने स्वयं टिप्पणी की थी कि, "हम मुसलमानों में उनका रक्त प्रवाहित है जिन्होंने न केवल अरब को बल्कि एशिया और यूरोप को भय से काँपने के लिए विवश किया था। हमी ने अपनी तलवार के बल पर पूरे भारत को जीता था यद्यपि यहाँ के सारे लोग एक ही धर्म की मानने वाले थे।"[27] स्पष्ट रूप से वह मुसलमानों को एक संगठित एकदल समाज मानते थे जिनकी साँझी राजनैतिक परंपराएँ और इतिहास था तथा हिंदू उनकी प्रजा थे।

'एक व्यक्ति एक वोट' की प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली द्वारा उनकी प्रजा का उनके शासक बन जाने का भय उन्हें भयभीत करता था। स्पष्ट है कि इसीलिए उन्होंने पूरी ताकत लगाकर इस व्यवस्था का विरोध किया और इसके समक्ष 'पृथक मतदान' का सुझाव पेश किया। अंग्रेजों ने एक सुनियोजित षड्यंत्र के अंतर्गत इस वैकल्पिक सुझाव को 1909 के कानून से संवैधानिक स्परूप प्रदान किया और इसे अल्पसंख्यक नीति के रूप में आगामी पीढ़ियों पर थोप दिया

'एक व्यक्ति एक वोट' की प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली द्वारा उनकी प्रजा का उनके शासक बन जाने का भय उन्हें भयभीत करता था। स्पष्ट है कि इसीलिए उन्होंने पूरी ताकत लगाकर इस व्यवस्था का विरोध किया और इसके समक्ष 'पृथक मतदान' का सुझाव पेश किया। अंग्रेजों ने एक सुनियोजित षड्यंत्र के अंतर्गत इस वैकल्पिक सुझाव को 1909 के कानून से संवैधानिक स्परूप प्रदान किया और इसे अल्पसंख्यक नीति के रूप में आगामी पीढ़ियों पर थोप दिया।

संदर्भ

1. मुजफ्फर आलम, द *लैंग्वेजेज ऐंड पोलिटिकल इस्लाम इन इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली, 2004, पृ. 19
2. अल-बरूनी, *इंडिया*, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1983, पृ. v, xx, 9, 10
3. अनिरुद्ध रॉय, द *सल्तनत ऑफ डेल्ही* (1206-1526), मनोहर, 2011,पृ. 22
4. ए.एम. जैदी, *इवोल्यूशन ऑफ मुस्लिम पोलिटिकल थॉट इन इंडिया*, मिचिको ऐंड पंजथन, नई दिल्ली, 1975,पृ. 25
5. रिचर्ड एम. ईटन, *इंडिया इन द पर्शिअनेट एज*, अलेन लेन, 2019, दिल्ली, पृ. 32,34
6. वही
7. अनिरुद्ध राय, द *सल्तनत ऑफ डेल्ही* (1206-1526), मनोहर, 2011, पृ.25, 410-411, ईटन, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 169, 329-331, साथ ही देखें, वसुधा डालमिया एवं मुनीस डी. फारुखी, *रेलिजियस इंटरैक्शंस इन मुगल इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2014, पृ. 31,35, 67
8. अल बरूनी
9. वसुधा डालमिया एवं मुनीस डी. फारुखी, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 31
10. वही, पृ. 37, 55
11. वही, पृ. xix
12. अनिरुद्ध राय, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 410-411
13. ज्यें बैप्टिस्ट टैवर्नियर, *ट्रैवल्स ऑफ इंडिया*, खंड 2, (अनुवाद, वी. बॉल), मैकमिलन, लंदन, 1889, पृ. 181
14. मुजफ्फर आलम, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 82
15. देखें अब्दुस सत्तार दलवी (सं.), *हिंदुस्तानी जबान*, बॉम्बे: खुसरू नंबर, हिंदुस्तानी प्रचार सभा, गांधी मेमोरियल रिसर्च सेंटर, 1975
16. हर्ष नारायण, *मिथ ऑफ कंपोजिट कल्चर ऐंड इक्वैलिटी ऑफ रेलिजन*, वॉयस ऑफ इंडिया, दिल्ली, 1990, पृ. 17, सीता राम गोयल, *हिंदू टेंपल्स*, पार्ट सेकंड, वॉयस ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1991, पृ. 271; कार्ल डब्ल्यू. अर्न्स्ट, *इटर्नल गार्डेन*, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क, अलबनी, 1992, पृ.25
17. मुजफ्फर आलम, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 83
18. वही, पृ. 180-183
19. नीना कुमारी, *मध्यकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति*, रिसर्च इंडिया प्रेस, दिल्ली, 2019, अध्याय 3
20. मुजफ्फर आलम, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 83 में उद्धृत इल्तुतमिश
21. विशद अध्ययन के लिए कृपया देखें, नरेंद्र कुमार (सं.), *पॉलिटिक्स ऐंड रेलिजन इन इंडिया*, राउटलेज, लंदन, 2020 में संकलित लेख हिमांशु राय, रेलिजन, *माइनॉरिटीज ऐंड द इंडियन स्टेट*
22. ए.एम. जैदी, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 25
23. द अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट, 23 नवंबर 1886 का तर्क है कि जैसा कि कांग्रेस माँग कर रही है, यदि एक व्यक्ति एक वोट सिद्धांत के अधीन भारत में संसद की स्थापना की जाती है तो 'मुसलमान स्थायी रूप से एक अल्पसंख्यक' होकर रह जाएंगे। कृपया देखें, शान मुहम्मद (सं.), द *अलीगढ़ मूवमेंट*, खंड 3, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1978, पृ. 970
24. कृपया देखें, ए.एम. जैदी (सं.), *फ्रॉम सैयद टु द इमर्जेंस ऑफ जिन्ना*, खंड प्रथम, मिचिको एवं पंजथन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 39-40 में 28.12. 1887 को लखनऊ में दिया गया उनका भाषण
25. कृपया देखें एम.ए.ओ. डिफेंस एसोसिएशन की बैठक की कार्यवाही तथा शान मोहम्मद, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 1059, 1063 में '*मैनिफेस्टो*'
26. कृपया देखें, शान मुहम्मद, *वही*, पृ. 1014-15 में 22.09.1893 को पायनियर के संपादक को लिखा गया उनका पत्र
27. कृपया देखें, ए.एम. जैदी, *पूर्व उद्धृत*, पृ. 43, में उनका भाषण; तथा शान मुहम्मद, *वही*, पृ. 1122-23 में द *अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट* (संपादकीय), 05.09.1893

डॉ. सीमा सिंह

संवैधानिक विरोधाभास पर गहन अंतर्दृष्टि

हमारे यहाँ पंथनिरपेक्षता की व्यवस्था समावेशन के बजाय बहुसंख्यकों के साथ भेदभाव को बढ़ावा देती है और इसीलिए यह केवल राजनैतिक तुष्टीकरण का हथियार बन कर रह गई है। एक व्यवस्थित अध्ययन

भारत जैसे पंथनिरपेक्ष देश में धार्मिक अल्पसंख्यकों को चिन्हित करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। भारत जैसे पंथनिरपेक्ष देश और विश्व की प्राचीनतम् सभ्यताओं में से एक ऐसी सभ्यता होने के कारण जो सदा ही धार्मिक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों का संरक्षण और (समावेशीकरण) आत्मीकरण करती आई है, वहाँ धार्मिक अल्पसंख्यकों को विशेष संरक्षण देना न्यायसंगत नहीं है। प्रस्तुत शोधपत्र में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द की उत्पत्ति और भारत सरकार अधिनियम 1935 के प्रभाव में उसे भारतीयों पर थोपने का अध्ययन करता है। इस परिचर्चा का मूलभाव यही है कि भारत के पंथनिरपेक्ष संविधान के रहते राज्यपोषित धार्मिक संरक्षण दिया जा रहा है।

भूमिका

वैश्विक राजनीति, न्यायपालिका और विधिक जगत में 'पंथनिरपेक्षता' एक अत्यधिक सम्मानित शब्द है। इस शब्द के अनेक अभिप्राय हैं परंतु इसे इसके वास्तविक अर्थ में समझना आवश्यक है। 'सेक्युलरिज्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश सुधारक जॉर्ज जैकब हौलीओक द्वारा किया गया था। इसकी परिभाषा के लिए उसने फ्रांसीसी विद्वान ज्याँ बुबेरो का सहारा लिया है।[1] बुबेरो सेक्युलर समाज की तीन विशेषताएँ मानते हैं, जो हैं - 1. सेक्युलर संस्थानों से धार्मिक संस्थानों का अलगाव, 2. अन्य सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करते हुए और सार्वजनिक शांति व्यवस्था बनाए रखने की सीमा के भीतर सभी को आत्मिक उन्नति की आजादी 3. धार्मिक विश्वासों (आस्थाओं) के आधार पर राज्य द्वारा किसी नागरिक से भेदभाव नहीं।[2]

इस शब्द के मूल में अत्यधिक गहरी और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। इसे चर्च और शासकों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम कहा जा सकता है। इस विवाद की जड़ में सत्ता और संपदा पर एकाधिकार की लालसा थी। चर्च पर वर्चस्व स्थापित करने के पश्चात् चर्च के 'फादर्स' ने राजनीति पर नियंत्रण का प्रयास प्रारंभ किया। एक ओर चर्च लोगों को 'सरल जीवन और उच्च विचार' का आदर्श दे रही थी दूसरी ओर चर्च के 'फादर्स' विलासितापूर्ण जीवन जी रहे थे।

इसाई धर्म को राज्य धर्म स्वीकार किए जाने के पश्चात् और पोप की सत्ता के विकास के साथ एक ईसाई संसार का निर्माण हुआ तथा अंततः रोमन साम्राज्य और ईसाई दुनिया की सीमाएँ मिलकर एक हो गईं। दोनों सत्ताओं की शक्तियाँ कभी भी स्पष्ट रूप से अलगाई नहीं गई थीं। इससे दोनों की शक्तियों का अतिच्छादन हुआ। साथ ही दोनों की शक्तियों का आध्यात्मिक और भौतिक जगत में निष्पादन संघर्ष को न्योता दे रहा था। पारस्परिक सहमति से बीच का रास्ता निकालने पर दोनों सहमत नहीं थे। संबंध तनावपूर्ण हो गए और संघर्ष अनिवार्य दिखाई पड़ने लगा।[3]

अंततः यह समझौता हुआ कि पोप और राजा एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और एक दूसरे से पूरी तरह अलग रहेंगे। इस प्रकार 'पंथनिरपेक्षता' के विचार ने जन्म लिया जिसका अर्थ था शासन से धर्म का अलगाव।

भारत की पंथनिरपेक्षता और समावेशन का विचार

सौ उपनिषदों में जो सुभाषित सूत्र दुहराया गया है, वह है "एकम् सत् विप्रा बहुधा वदंति"। इस कहावत का अर्थ है, "सत्य तो एक ही है परंतु विद्वान इसका वर्णन विभिन्न रूपों में करते हैं।"

उपनिषदों का यह सिद्धांत भारतीय सभ्यता में बहुत गहरा प्रवेश कर चुका है जिसके परिणामस्वरूप किसी भी धार्मिक संप्रदाय की भारत में संपूर्ण स्वीकार्यता रही है। इसी विचार का आगे विस्तार करते हुए कहा गया कि सृटि के कण-कण में वही सत्य ('ब्रह्म') व्याप्त है, इसी से प्रत्येक जीव में एक सी आत्मा का प्रवेश हुआ है।[4]

भारतीय परंपरा बहुलतावादी है और सभी को किसी भी नाम-रूप और अपने संस्कारों के अनुसार अपने आराध्य को पूजने का अधिकार देती है। यह पूजा पद्धति के स्तर पर भी बहुलतावादी है और दार्शनिक चिंतन के स्तर पर भी जिसमें शैव, शाक्त, वैष्णव, द्वैत, अद्वैत तथा अन्य अनेक रूप समाहित हैं। इसके परिणामस्वरूप भारतीय नीतिशास्त्र और दर्शन को अद्वितीय स्वरूप मिला जिससे सभी के लिए समावेशीकरण और सहयोग का भाव पैदा होता है।

आक्रांताओं का आगमन तथा अंग्रेजों की बाँटो और राज करो की नीति

भारत एक ऐसा देश है जिसे गत 1000 वर्षों में आक्रांताओं की लूटमार का शिकार होना पड़ा। विभिन्न आक्रांताओं ने विभिन्न उद्देश्यों से आक्रमण किए। मुस्लिम आक्रांताओं ने भारत को लूटा, इसके भवनों का विध्वंस किया और हिंदुओं का बलात् धर्मांतरण किया जबकि अंग्रेजों ने न केवल इसे लूटा और इसकी संपन्नता को नष्ट किया बल्कि यहाँ के लोगों के मनोमस्तिष्क और विचारों को भी दूषित किया तथा उनकी आध्यात्मिक पहचान को भी नष्ट किया। एक अनुमान के अनुसार उन्होंने गत 200 वर्षों में भारत से 45 ट्रिलियन डॉलर की संपदा लूटी।[5] यह संपदा उनकी गरीबी दूर करने के लिए पर्याप्त थी परंतु वे भारत का अधिक से अधिक समय तक शोषण करना चाहते थे। 1857 की क्रांति से उन्हें बड़ा धक्का लगा। पहली बार उन्होंने अनुभव किया कि भारतीयों की एकता के कारण अधिक समय तक राज नहीं कर सकेंगे। 1858 तक उन्होंने शासन करने की नई नीति तैयार की जिसमें उन्होंने राजाओं को जनता से, हिंदुओं को मुसलमानों से, एक जाति को दूसरी से तथा प्रांत को दूसरे प्रांत से लड़ाने का काम प्रारंभ किया।[6]

इस विभाजनकारी राजनीति का एक उदाहरण 1905 में घोषित बंगाल का विभाजन था जिसमें मुस्लिम बहुल पूर्वी बंगाल को हिंदू बहुल पश्चिम बंगाल से अलग किया गया। अगस्त 1932 में, प्रधानमंत्री रेम्से मैक्डॉनल्ड द्वारा 'सांप्रदायिक निर्णय' (कम्युनल अवार्ड) घेषित किया जो 'बाँटो और राज करो' का एक अन्य उदाहरण था। इस सांप्रदायिक निर्णय से अगड़ी जातियों, पिछड़ी जातियों, मुसलमानों, बौद्धों, सिखों, भारतीय ईसाइयों, आंग्ल भारतीयों और अछूतों (जिन्हें अब दलित कहा जाता है), के लिए ब्रिटिश शासनाधीन प्रदेशों में अलग-अलग मतदान का प्रावधान किया गया। इस विभाजनकारी राजनीति को प्रोत्साहन देने के परिणामस्वरूप 1906 में एक राजनैतिक दल मुस्लिम लीग का गठन हुआ, जिसने मुस्लिम बहुल एक अलग राष्ट्र-राज्य 'पाकिस्तान' के गठन की पुरजोर हिमायत की।

धार्मिक अल्पसंख्यक और भारत सरकार अधिनियम 1935

1935 का कानून, ब्रिटिश संसद द्वारा पारित सबसे लंबा कानून था। इस कानून द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों को संवैधानिक वैधता देते हुए मुसलमानों को अलग मतदान का अधिकार दिया गया। संघीय धारा-सभा में इस कानून द्वारा मुसलमानों को एक तिहाई प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। यहाँ तक कि मजदूरों और महिलाओं को भी अलग प्रतिनिधित्व दे दिया गया यद्यपि उन्होंने इसकी माँग नहीं की थी।[7] कांग्रेस ने 1937 में जनप्रतिनिधियों की एक बैठक में इस कानून को खारिज करते हुए कहा कि यह शोषण और गुलामी की जड़ों को पोषित करता है और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव को मजबूत करता है।"[8]

1936 और 1939 में कांग्रेस ने संविधान सभा बनाने का प्रस्ताव पारित किया। 1946 की 'कैबिनेट कमीशन' योजना के अंतर्गत पहली बार संविधान सभा के चुनाव हुए। संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव, परोक्ष रूप से धारा सभाओं के उन सदस्यों द्वारा किया गया जिनका चुनाव सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया था।[9]

अंग्रेजों के अधीन भारत के प्रांतों से संविधान सभा की 296 सीटों का चुनाव 1946 तक हो गया। कांग्रेस 208 तथा मुस्लिम लीग 73 स्थानों पर विजयी हुई।[10] इस चुनाव के पश्चात मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से सहयोग करने से इन्कार कर दिया और राजनैतिक स्थिति खराब हुई। हिंदू-मुस्लिम दंगे शुरू हो गए और मुसलमानों ने अपने लिए अलग संविधान सभा की माँग प्रारंभ कर दी।

विभाजन के परिणामस्वरूप, 3 अगस्त 1947 को माउंटबेटन योजना के अनुरूप, मुसलमानों के लिए अलग संविधान सभा का गठन किया गया। जिन क्षेत्रों का विलय पाकिस्तान में हो गया था उनके प्रतिनिधियों को भारत की संविधान सभा से हटा दिया गया।[11]

संविधान सभा और धार्मिक अल्पसंख्यकों पर चर्चा

अल्पसंख्यकों को भारत में विशेष संरक्षण दिया गया है। जैसे कि हम चर्चा कर चुके हैं, 'धार्मिक अल्पसंख्यक' की अवधारणा को अंग्रेजों ने भारत को धार्मिक आधार पर बाँटकर अपनी सत्ता के विस्तार और दीर्घकाल तक रुकने की नीयत से प्रोत्साहित किया था। पाकिस्तान का निर्माण जिन्ना और

भारत एक ऐसा देश है जिसे गत 1000 वर्षों में आक्रांताओं की लूटमार का शिकार होना पड़ा। विभिन्न आक्रांताओं ने विभिन्न उद्देश्यों से आक्रमण किए। मुस्लिम आक्रांताओं ने भारत को लूटा, इसके भवनों का विध्वंस किया और हिंदुओं का बलात् धर्मांतरण किया जबकि अंग्रेजों ने न केवल इसे लूटा और इसकी संपन्नता को नष्ट किया बल्कि यहाँ के लोगों के मनोमस्तिष्क और विचारों को भी दूषित किया तथा उनकी आध्यात्मिक पहचान को भी नष्ट किया। एक अनुमान के अनुसार उन्होंने गत 200 वर्षों में भारत से 45 ट्रिलियन डॉलर की संपदा लूटी

मुस्लिम लीग ने किया क्योंकि उन्होंने हिंदू बहुल भारत में रहने से इंकार कर दिया था।

अंग्रेजी सरकार द्वारा आरक्षण और सांप्रदायिक निर्णय जैसे लाभ दिए गए। संविधान सभा के लिए धार्मिक आधार पर भारत का विभाजन अत्यधिक चिंताजनक था। इसलिए 'धार्मिक अल्पसंख्यक' शब्द के प्रयोग को लेकर गर्मागर्म बहस हुई।

संविधान सभा की चर्चा में अल्पसंख्यकों के विचार को सैद्धांतिक रूप से खारिज कर दिया गया। भारत विभाजन ने संविधान सभा में कड़वाहट का भाव भर दिया था इसलिए 'अल्पसंख्यक' के स्थान पर 'अन्य वर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया।

संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने जैसे काँजी कमरुद्दीन, जेड एच लहरी और डी.एच. चंद्रशेखरिया आदि ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व का पक्ष लिया परंतु संविधान सभा ने ऐसे सभी सुझावों को खारिज कर दिया जिनमें अल्पसंख्यकों को राजनैतिक प्रतिनिधित्व अलग से देने की वकालत थी, जिससे कि अलग मतदान द्वारा उनकी जनसंख्या को आनुपातिक प्रतिनिधित्व देने की बात थी क्योंकि इससे अलगाववाद को बढ़ावा मिलता था।[12] यहाँ तक कि 'पूजा के अधिकार' और 'धार्मिक क्रियाकलापों' की चर्चा करते हुए भी संविधान सभा सभी भारतीय नागरिकों को संबोधित करने के पक्ष में थी। ऐसी सभी माँगों को ठुकराने के पीछे प्रमुख तर्क राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय पहचान का ही था।

संयुक्त प्रांत की मुस्लिम प्रतिनिधि बेगम एजाज रसूल ने एक तर्कसंगत प्रश्न उठाया। उन्होंने सभी संप्रदायों को उनकी धार्मिक पहचान को भुलाकर एक राष्ट्र में गूँथने की वकालत की। उन्होंने कहा कि अल्पसंख्यकों के लिए यह उचित होगा कि वे बहुसंख्यकों में अपनी पहचान मिला दें। इससे कालांतर में उन्हें बहुसंख्यकों का विश्वास जीतने में सहायता मिलेगी। उन्होंने यह भी कहा कि भारत में रहने वाले मुसलमानों को पूरी तरह भारतीय बहुसंख्यकों की शुभेच्छा पर छोड़ देना चाहिए। अलगाववादी प्रवृत्तियाँ त्याग देनी चाहिए और पंथनिरपेक्ष राष्ट्र के निर्माण में अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए।

उन्होंने यह भी कहा कि जो मुसलमान पाकिस्तान जाना चाहते थे, वे जा चुके हैं।

जिन्होंने यहाँ रुकने का निर्णय लिया है उन्हें बहुसंख्यकों के साथ मैत्रीपूर्ण एवं सौहार्दपूर्ण संबंध बनाकर रहना चाहिए। उन्हें यहाँ पर वर्तमान परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार ही अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए।[13]

दामोदर सेठ ने कहा कि अल्पसंख्यकों को यदि किसी तरह का संरक्षण देना आवश्यक है तो वह भाषिक संरक्षण है। सेठ के अनुसार यदि धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपने शैक्षिक संस्थान चलाने का अधिकार दिया जाएगा तो "इससे सांप्रदायिकता बढ़ेगी और राष्ट्र-विरोधी जवीन-दृष्टि विकसित होगी।"[14]

11 मई 1949 को एच सी मुखर्जी ने जो कि अल्पसंख्यक उपसमिति की परामर्शदात्री समिति के सदस्य थे अपना विरोध प्रकट करते हुए कहा था, "कुछ लोग हैं जो सचमुच अपने संप्रदाय के भविष्य को लेकर घबराए हुए हैं और उसके अधिकारों की रक्षा के लिए विधानसभाओं में आना चाहते हैं। परंतु जब मौलिक अधिकारों में धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक संरक्षण दे दिया गया है तो कुछ धार्मिक समूहों का विधानसभाओं में रहना आवश्यक नहीं है।[15]

यद्यपि आज अल्पसंख्यकों की पहचान धार्मिक आधार पर की जाती है परंतु संविधान सभा में भाषाई समूहों के सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा की बात हुई थी न कि धार्मिक समूहों की। श्री स्वरूप सेठ ने सुझाव दिया था कि संप्रदाय अथवा धर्म के आधार पर अल्पसंख्यकों की पहचान करना देश के पंथनिरपेक्ष ढाँचे के अनुरूप नहीं है। यदि ऐसे अल्पसंख्यक समाजों को अपनी शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित और संचालित करने का अधिकार दिया जाएगा तो इससे राष्ट्रीय एकता का मार्ग अवरुद्ध होगा और राष्ट्रविरोधी विचारधारा विकसित होगी।"[16]

राजकुमारी अमृत कौर और गोविन्द बल्लभ पंत की भी ऐसी ही सोच थी। उन्होंने ऐसी शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित करने अथवा उन्हें सरकारी सहायता देने का विरोध किया था।

संविधान के प्रारूप की धारा 23, जो आगे चलकर संविधान की धारा 29 और 30 के रूप में सामने आई, उस पर संविधान सभा में अल्पसंख्यकों को दिए जाने वाले अधिकारों पर गहन चर्चा हुई थी। मौलिक अधिकारों की उप समिति द्वारा 16 अप्रैल 1947 को संविधान सभा को सौंपे गए मूल प्रारूप की प्रति में धारा 30(1) के समकक्ष कोई सुझाव समाहित नहीं था। अल्पसंख्यक उपसमिति को उसी दिन सौंपे गए पत्र में अन्य अधिकारों के साथ जो कि संविधान की धारा 30(1) में आज सम्मिलित है, उसमें 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों' शब्द का प्रयोग हुआ था। प्रारूप निर्मात्री समिति ने यद्यपि नागरिकों के किसी वर्ग की भाषा, लिपि, संस्कृति के संरक्षण के अधिकार और धार्मिक अथवा भाषाई आधार पर शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना और संचालन में भेद किया था परंतु इसमें भी समिति ने प्रारूप की धारा 23 जो धारा 29 है में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग नहीं किया था जो कि उसने उसके पिछले भाग में जो संविधान की धारा 30(1) के रूप में सामने आया इस शब्द को रहने दिया था।[17]

बी.आर. अंबेडकर ने अल्पसंख्यक के

स्थान पर 'कोई भी अन्य वर्ग' शब्द रखने के औचित्य को दर्शाते हुए कहा था, "इस ओर ध्यान देना चाहिए कि यहाँ अल्पसंख्यक शब्द उस तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है जिस रूप में हम उसे समझने के अभ्यस्त रहे हैं जैसे कि संविधान सभा में प्रतिनिधित्व अथवा नौकरयों में आरक्षण आदि के लिए। यह शब्द न केवल तकनीकी रूप से अल्पसंख्यक माने जाने वाले लोगों के लिए हुआ है बल्कि उन लोगों के लिए भी हुआ है जो सांस्कृतिक और भाषाई दृष्टि से अल्पसंख्यक हैं। यही कारण है कि हमने अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग नहीं किया है क्योंकि हमें प्रतीत होता था कि इस शब्द का संकीर्ण अर्थ लिया जाएगा जबकि सदन का इससे अभिप्राय व्यापक अर्थों में उन लोगों को सांस्कृतिक संरक्षण देना था जो कि तकनीकी दृष्टि से अल्पसंख्यक न होते हुए भी अल्पसंख्यक थे।"[18]

यह स्पष्ट है कि सारे तर्कों के बावजूद संविधान सभा ने धर्माधारित सांस्कृतिक पहचान को मानने से इंकार कर दिया था। मानव सभ्यता के संपूर्ण इतिहास में भारत में बहुसंख्यक समाज ने कभी अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया फिर भी किन्हीं अज्ञात कारणों से संविधान में उनमें सुरक्षा का भाव भरने के लिए अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार प्रदान किए गए। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि संविधान सभा ने कहीं भी धार्मिक अल्पसंख्यकों को परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया जिसका अभिप्राय यह है कि वह धार्मिक अल्पसंख्यकों को चिन्हित करने में ब्रिटिश विचारों का समर्थन करती है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेज सरकार द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों को प्रोत्साहित करने के पीछे विखंडन और अलगाववाद को बढ़ाने की भावना थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार के कारण संविधान सभा पर अज्ञात ढ़ंग का दवाब बना और भारत में रह गए अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना पैदा करने के लिए संविधान में धारा 29 और 30 लाई गई।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के संविधान में धार्मिक अल्पसंख्यक

दुर्भाग्य से न तो स्वतंत्रता पूर्व और न ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'धार्मिक अल्पसंख्यक' की अवधारणा को पारिभाषित किया गया। यहाँ तक कि 1928 की 'मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट' भी जो धार्मिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की जोरदार वकालत करती है, इस शब्द को परिभाषित नहीं किया। इसी प्रकार 1948 की सप्रू रिपोर्ट में भी जो अल्पसंख्यक आयोग का सुझाव देती है, यह नहीं हुआ। वास्तव में, स्वतंत्र भारत में भी हम अंग्रेजों के 'धार्मिक अल्पसंख्यक' के उसी विचार को मान्यता देते आ रहे हैं जो हमें विभाजित करने के लिए गढ़ा गया था।

यह स्पष्ट है कि सारे तर्कों के बावजूद संविधान सभा ने धर्माधारित सांस्कृतिक पहचान को मानने से इंकार कर दिया था। मानव सभ्यता के संपूर्ण इतिहास में भारत में बहुसंख्यक समाज ने कभी अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया फिर भी किन्हीं अज्ञात कारणों से संविधान में उनमें सुरक्षा का भाव भरने के लिए अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार प्रदान किए गए। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि संविधान सभा ने कहीं भी धार्मिक अल्पसंख्यकों को परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया

भारतीय संविधान में अनेक स्थलों पर धार्मिक अल्पसंख्यकों का उल्लेख है परंतु संविधान की धारा 30 में ही धार्मिक अल्पसंख्यकों को कुछ विशेषाधिकार दिए गए हैं।[19] यद्यपि इस धारा में भी धार्मिक अल्पसंख्यक की परिभाषा नहीं दी गई है।

वर्तमान कानूनी ढाँचे में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग कानून (1992) द्वारा केंद्र सरकार को सीमित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिकार दिया गया जिसके अनुसार केंद्र सरकार ने पाँच समूहों को धार्मिक अल्पसंख्यक अधिसूचित किया गया। इस प्रकार इस अवधारणा की व्याख्या का असीमित अधिकार केंद्र के पास है और वह जैसे चाहे इसकी व्याख्या कर सकती है।

स्वतंत्र भारत में 'धर्म' और 'धार्मिक अल्पसंख्यक' राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बन गए और 42वें संविधान संशोधन द्वारा 1976 में संविधान में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द जोड़ने के पश्चात धर्म और 'धार्मिक अल्पसंख्यक' शब्दों के दुरुपयोग की आशंका और भी बढ़ गई है। यद्यपि यह भी सच है कि इस संविधान संशोधन की वैद्यता पर अभी भी प्रश्न चिन्ह लगा है।

यहाँ, यह भी जानना महत्वपूर्ण है कि जब 15 नवंबर 1948 को के. टी. सेठ ने 'पंथनिरपेक्ष' शब्द को संविधान में रखने का प्रस्ताव किया था तब पंडित नेहरू और अंबेडकर ने इसे ठुकरा दिया था।

धार्मिक अल्पसंख्यक, पंथनिरपेक्षता और न्यायपालिका

जैसी कि ऊपर चर्चा की गई कि न तो स्वतंत्रता पूर्व न ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों को परिभाषित करने का कोई प्रयास किया गया। केरल शिक्षा विधेयक[20] के संदर्भ में धार्मिक अल्पसंख्यकों को परिभाषित करने का प्रश्न न्यायालय में उठाया गया। इस मुकद्दमे में उच्चतम न्यायालय ने अल्पसंख्यक की परिभाषा अत्यधिक अस्पष्ट रूप से की और कहा, "कोई भी धार्मिक समुदाय जो कुल जनसंख्या का 50 प्रतिशत से कम है उसे धार्मिक अल्पसंख्यक घोषित किया जा सकता है। परंतु यह परिभाषा अत्यधिक अस्पष्ट है और कार्यपालिका को 'धार्मिक अल्पसंख्यक' शब्द से राजनैतिक दृष्टि से खिलवाड़ करने की अधिक छूट देती है। इस निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि धारा 29 और 30 के अधीन संरक्षण देने हेतु धार्मिक अल्पसंख्यकों की पहचान का अधिकार प्रांतों को होगा।

टी.एम.ए. पई फाउंडेशन[21] के मुकद्दमे में भी न्यायालय की संविधान-पीठ ने यह निर्णय दिया था कि धार्मिक और भाषिक अल्पसंख्यकों की पहचान राष्ट्रीय स्तर पर न करके, राज्यों के स्तर पर की जानी चाहिए। परंतु कुछ समय पूर्व ही राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग ने उच्चतम न्यायालय

के वकील अश्विनी उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत, आठ राज्यों में हिंदुओं को अल्पसंख्यक घोषित करने की याचिका को इसी आधार पर सुनने से इंकार कर दिया। यद्यपि इन आठों राज्यों (कश्मीर, उत्तर-पूर्व और लक्षद्वीप) में हिंदू अल्पसंख्यक है, लेकिन उसे ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नहीं हो रही है जो हिंदू बहुसंख्यक राज्यों में अन्य अल्पसंख्यक नागरिकों को उपलब्ध है। यह संवैधानिक असमानता का प्रश्न उठाने के लिए पर्याप्त है क्योंकि अल्पसंख्यकों को जो अधिकार प्राप्त हैं पूरे देश के स्तर पर समग्रता में देखे जाने पर बहुसंख्यक यानी हिंदुओं को उपलब्ध नहीं हैं। इस याचिका में उच्चतम न्यायालय के पास 8 राज्यों में हिंदू अल्पसंख्यकों को न्याय देने का सुनहरा अवसर था जिससे वह चूक गया। इस प्रकार अभी भी इन राज्यों में हिंदू धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ स्पष्ट भेदभाव हो रहा है।

धार्मिक अल्पसंख्यकों विषयक चर्चा में एक अति महत्वपूर्ण अधिकार को अनदेखा नहीं किया जा सकता। एक विशेष कानून द्वारा 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थान एक्ट 2004' की स्थापना अल्पसंख्यकों के शैक्षिक अधिकारों की रक्षा के लिए की गई थी जिसमें 2006 और 2010 में संशोधन किए गए। उपबंध 2 (एक) के अधीन यह व्यवस्था है कि अल्पसंख्यक से अभिप्राय ऐसे समाज से है जिसे इस रूप में केंद्र सरकार द्वारा अधिसूचित किया गया है। साथ ही 'अल्पसंख्यक' प्रमाण पत्र के लिए निर्धारित शर्तों को स्पष्ट करने के लिए इस अधिनियम में उपबंध 2(सी) की चर्चा अनिवार्य हो जाती है क्योंकि यह 'अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थान' को पारिभाषित करती है। उपबंध 2(जी) के अनुसार 'अल्पसंख्यक शैक्षिक संस्थान' का अर्थ है, ऐसा महाविद्यालय अथवा संस्थान जिसे अल्पसंख्यक अथवा अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा स्थापित और संचालित किया जा रहा हो।"

भारत सरकार की 23.10.1993 की गजट अधिसूचना के अनुसार पाँच अधिसूचित अल्पसंख्यक समुदाय हैं -"मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध और पारसी।"[22]

परंतु जब हम इन अल्पसंख्यकों की संख्या पर दृष्टिपात करते हैं तो इनमें अत्यधिक अंतर दिखाई पड़ता है। 2011 की जनगणना के अनुसार विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों की जनसंख्या का प्रतिशत है - मुसलमान 14-15 प्रशित, इसाई 2.96 प्रतिशत, सिख 1.57 प्रतिशत, जैन 0.945 प्रतिशत तथा बौद्ध 0.96 प्रतिशत। अन्य धर्म 0.66 प्रतिशत हैं। इस प्रकार अल्पसंख्यकों में सर्वाधिक आबादी वाले मुसलमान वोट बैंक के रूप में सभी राजनैतिक दलों की पहली पसंद है और कम संख्या वाले पारसियों कि किसी को कोई परवाह तक नहीं है।

'धार्मिक अल्पसंख्यक' की अस्पष्टता की गंभीरता को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। यह विडंबना ही है कि अल्पसंख्यक मामलों का मंत्रालय जो कि सामाजिक न्याय मंत्रालय से काटकर बनाया गया था और जो 4500 करोड़ की धनराशि अल्पसंख्यकों के कल्याण पर खर्च करता है उसके पास 'अल्पसंख्यक' की पहचान की कोई स्पष्ट कसौटी है ही नहीं।[23]

जैसी कि ऊपर चर्चा की गई है 'पंथनिरपेक्षता' का वास्तविक अर्थ है किसी धर्म विशेष को दूसरे धर्म पर अधिमान न देना तथा धार्मिक भावनाओं को देश की एकता, अखंडता और प्रभुसत्ता पर अधिमान न देना।

परंतु बिजोय इमैनुएल एवं अन्य बनाम केरल सरकार[24] के मुकद्दमे में उच्चतम न्यायालय ने और ही तरह का फैसला दिया। यह मुकद्दमा तीन छात्रों से संबंधित है, जो कि यहोवा समुदाय से थे और उन्होंने राष्ट्रगान गाने से इंकार कर दिया था जिसके कारण उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया था। उच्चतम् न्यायालय ने निर्णय दिया क्योंकि इन छात्रों का धर्म अपने धर्म के अतिरिक्त किसी भी ईश्वर की पूजा की आज्ञा नहीं देता, इसलिए उन्हें सजा नहीं दी जा सकती और उन्हें राष्ट्रगान के लिए विवश नहीं किया जा सकता।

इस अभियोजन में, उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनुच्छेद 19(ए) जो अभिव्यक्ति की आजादी प्रदान करता है तथा अनुच्छेद 25 जो आत्मा की आजादी में विश्वास की आजादी, धर्म को मानने और प्रचारित करने की आजादी देता है, यह सब मूल अधिकार हैं, जो हर भारतीय नागरिक को उपलब्ध हैं। यहाँ पर हर किसी को राष्ट्रगान गाने के लिए उस समय बाध्य करना जबकि उसे अपने धर्म के विरूद्ध लगता हो, उसके अनुच्छेद 19(1)ए तथा 25(1) में प्रदत्त संवैधानिक अधिकारों का हनन है।

परंतु इस निर्णय में धार्मिक आस्था को राष्ट्र पर अधिमान दिया गया जिससे गलत उदाहरण पेश होता है और भविष्य में कोई भी धार्मिक समुदाय राष्ट्रगान गाने अथवा राष्ट्र ध्वज को प्रणाम करने से धार्मिक आस्था के अनुसार इंकार कर सकता है। यह निश्चय ही चिंताजनक व्याख्या है जिससे राष्ट्रीय अखंडता और देश के पंथनिरपेक्ष बुनावट को खतरा हो सकता है।

अल्पसंख्यक अधिकारों और पंथनिरपेक्षता में तनाव का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण संविधान के अनुच्छेद 27[25], अनुच्छेद 29[26] और अनुच्छेद 30[27] में अंतर्विरोध है। अनुच्छेद 27 की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा कि इस विषय में दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। (क) धारा 27 के प्रावधान तब लागू होते हैं जबकि लगाए गए किसी भी कर के साथ यह स्पष्ट प्रावधान हो कि उसे धर्मविशेष के लिए खर्च किया जाएगा। (ख) धारा 27 तभी लागू होगी जबकि संबंधित कानून, आयकर अधिनियम अथवा केंद्रीय आबकारी अधिनियम अथवा राज्य व्यापार कर अधिनियम (जिनमें स्पष्ट नहीं

'धार्मिक अल्पसंख्यक' की अस्पष्टता की गंभीरता को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। यह विडंबना ही है कि अल्पसंख्यक मामलों का मंत्रालय जो कि सामाजिक न्याय मंत्रालय से काटकर बनाया गया था और जो 4500 करोड़ की धनराशि अल्पसंख्यकों के कल्याण पर खर्च करता है उसके पास 'अल्पसंख्यक' की पहचान की कोई स्पष्ट कसौटी है ही नहीं

होता कि प्राप्त आय किस उद्देश्य के लिए खर्च की जाएगी) की तरह हो परंतु उससे प्राप्त आय अधिकतर किसी विशेष धर्म के लिए खर्च की जानी हो।[28]

सदा से झगड़े की जड़ यह बात रही है कि क्या सरकार एक पंथनिरपेक्ष राज्य में अल्पसंख्यक धार्मिक शैक्षिक संस्थाओं को धनराशि दे सकती है? और क्या सरकारी सहायता प्राप्त ऐसी शैक्षिक संस्थाओं में गैर अल्पसंख्यक समाज के बच्चों को प्रवेश से रोका जा सकता है? क्या यह अनुच्छेद 27 और अनुच्छेद 29(2) का उल्लंघन होगा? क्या यह करदाताओं के पैसे से किसी धर्म का पोषण नहीं है?

सेंट स्टीफेंस कॉलेज बनाम दिल्ली विश्वविद्यालय[29] के अभियोजन में उच्चतम न्यायालय ने जो निर्णय दिया उसपर पुन: विचार आवश्यक है। इस अभियोजन में महाविद्यालय की प्रवेश प्रणाली और ईसाई छात्रों को दी जाने वाली वरीयता को दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रवेश संबंधी परिपत्र का उल्लंघन बताते हुए चुनौती दी गई थी। नियमावली में कहा गया था कि प्रवेश के पूर्व छात्रों का साक्षात्कार लिया जाएगा। विश्वविद्यालय ने निर्धारित किया था कि महाविद्यालय इंटरव्यू नहीं ले सकते और उन्हें विश्वविद्यालय के प्रवेश नियमों का अनिवार्यत: पालन करते हुए निर्धारित प्रवेश-पूर्व की परीक्षा के अंकों के आधार पर ही प्रवेश देना होगा। महाविद्यालय ने उच्चतम न्यायालय में विश्वविद्यालय के प्रवेश संबंधी परिपत्र को चुनौती देते हुए धारा 30 का हवाला देते हुए याचिका लगाई और कहा कि यह पत्र उसका उल्लंघन करता है। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि अल्पसंख्यक संस्थान होने के कारण महाविद्यालय संविधान के अनुच्छेद 30(1) के अनुसार, विश्वविद्यालय के प्रवेश संबंधी नियमों को मानने के लिए बाध्य नहीं क्योंकि यह उनके अपने संस्थान को संचालित करने के विशेषाधिकार का हनन करता है। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि संस्थान में प्रवेश देने की प्रक्रिया, महाविद्यालय प्रशासन का एक प्रमुख अंग है। इसलिए अनुच्छेद 30(1) के अंतर्गत यह अधिकार उन्हें स्वत: प्राप्त है। न्यायालय ने आगे यह भी जोड़ा कि संस्थान का अल्पसंख्यक स्वरूप बनाए रखने के लिए वह 50 प्रतिशत स्थान अपने अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित कर सकता है और उन्हें प्रवेश में वरीयता दे सकता है।

इसी प्रकार सेंट जेवियर महाविद्यालय बनाम गुजरात सरकार[30] के अभियोजन में कहा गया कि उक्त महाविद्यालय ईसाई छात्रों को शिक्षा देने के उद्देश्य से एक जेसुआइट समिति अहमदाबाद में इसे चला रही है। गुजरात विश्वविद्यालय के प्रवेश संबंधी कुछ उपबंधों को याचिका में चुनौती दी गई थी जो कि संबद्धता प्रदान करने वाले विश्वविद्यालय और सरकार के लिए भी थी। न्यायालय ने निर्णय दिया था कि यह उपबंध अल्पसंख्यक संस्थानों पर लागू नहीं किए जा सकते क्योंकि इनसे उनके संस्थान को चलाने और उसका प्रबंधन करने में बाधा पड़ती है।

इन दोनों मामलों में सबसे कम महत्व के अनुच्छेद 30 में दिए अधिकारों को अधिमान दिया गया था और संविधान के तद्विषयक अधिक महत्वपूर्ण अनुच्छेदों यथा 14,15,27 और 29(2) की उपेक्षा की गई थी।

एक अन्य अत्यधिक महत्वपूर्ण मामला प्रामती एजुकेशनल एंड कल्चरल ट्रस्ट तथा अन्य बनाम भारत सरकार एवं अन्य[31] का है जिसमें भी न्यायालय ने धार्मिक अल्पसंख्यक को अत्यधिक अधिमान दिया। इस मामले में न्यायालय ने बच्चों की नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 2009 (आर.टी.ई.) को मान्यता प्रदान की। प्रामती मामले के दूसरे भाग में सभी अल्पसंख्यक संस्थानों को आर.टी.ई. अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने से छूट दे दी गई है। इसके अंतर्गत यह व्यवस्था दी गई है कि अल्पसंख्यक संस्थान, चाहे उन्हें किसी प्रकार की सरकारी सहायता मिलती हो अथवा नहीं, राज्य की किसी भी प्रकार की आरक्षण नीति मानने के लिए बाध्य नहीं होंगे। दूसरी तरफ, गैर अल्पसंख्यक संस्थान, चाहे वे सरकारी सहायता प्राप्त करते हों अथवा नहीं, राज्य की आरक्षण नीति के क्रियान्वयन के लिए बाध्य कर दिए गए हैं। इसमें शिक्षा का अधिकार अधिनियम भी शामिल है, जिसके अंतर्गत आर्थिक रूप से विपन्न वर्ग के छात्रों के लिए 25% सीटों का आरक्षण अनिवार्य कर दिया गया है।

इस निर्णय से सिद्ध हुआ कि यहाँ अधिकारों और जिम्मेदारियों का स्पष्ट बँटवारा है।[32] अधिकार केवल अल्पसंख्यकों के हैं और दायित्व गैर-अल्पसंख्यकों यानी बहुसंख्यकों के।[33] यह बिलकुल साफ तौर पर भेदभाव करते हैं और परोक्ष रूप से बहुसंख्यकों को लाभ प्राप्त करने के लिए अल्पसंख्यक बनने का प्रलोभन देते हैं। यही पंथनिरपेक्ष लोकतंत्र का सबसे बड़ा विरोधाभास है।

उच्चतम न्यायालय द्वारा भी इसी बिंदु को 'इस्लामिक अकादमी ऑफ एजुकेशन बनाम यूनियन ऑफ इंडिया' में स्वीकार किया गया। इसके निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि धारा 30 का लक्ष्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को संरक्षण देना है परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि धारा 30 द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों पर अधिमान दिया गया है।[34]

कुछ ही समय पहले की एक याचिका में जो कि 'नीरज शंकर एवं अन्य बनाम भारत सरकार एवं अन्य'[35] के नाम से थी, उसमें भारतीय संविधान और सरकारी नीतियों के अनेक गंभीर विरोधाभासों का प्रश्न उठाया गया था। याचिकाकर्ता ने यह प्रश्न उठाया था कि हिंदू होने के कारण वह सरकार की 4500 करोड़ से अधिक की योजनाओं का

एक अन्य अत्यधिक महत्वपूर्ण मामला प्रामती एजुकेशनल एंड कल्चरल ट्रस्ट तथा अन्य बनाम भारत सरकार एवं अन्य का है जिसमें भी न्यायालय ने धार्मिक अल्पसंख्यक को अत्यधिक अधिमान दिया। इस मामले में न्यायालय ने बच्चों की नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा अधिनियम 2009 (आर.टी.ई.) को मान्यता प्रदान की। प्रामती मामले के दूसरे भाग में सभी अल्पसंख्यक संस्थानों को आर.टी.ई. अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने से छूट दे दी गई है

लाभ नहीं उठा सकता, जिन्हें कुछ धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए तैयार किया गया है। जबकि भारतीय संविधान भी किसी धर्मविशेष के लिए ऐसे विशेष प्रावधान करने की अनुमति नहीं देता। याची ने केंद्रीय कानून संख्या 19/1992 के माध्यम से गठित राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की संवैधानिक वैधता को भी चुनौती दी थी, जिसमें कहा था कि भारत की संसद भी किसी धर्म अथवा अल्पसंख्यक धर्मावलंबियों के लिए भी विशेषाधिकार देने का कानून नहीं बना सकती। संविधान की धारा 15(4) के अंतर्गत भी इस प्रकार के विशेषाधिकार उन्हीं समुदायों को प्रदान किए जा सकते हैं जिन्हें धारा 340 के अंतर्गत गठित किसी आयोग ने 'सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा वर्ग' घोषित किया हो। करदाताओं के पैसे से किसी भी धर्म अथवा आर्थिक समूह को बढ़ावा नहीं दिया जा सकता और कानून में उल्लिखित किसी भी ऐसे उद्देश्य के लिए अल्पसंख्यक आयोग नहीं बनाया जा सकता। सरकार को किसी भी समुदाय को अल्पसंख्यक घोषित करने का अधिकार नहीं है। अल्पसंख्यक समुदाय का दायित्व है कि वह अपनी पसंद का संस्थान संविधान की धारा 30 के अनुरूप गठित करे। याची ने यह भी उल्लेख किया कि सरकार और संसद अल्पसंख्यकवाद को बढ़ावा नहीं दे सकती और उनके लिए कल्याणकारी योजनाएँ, बनाकर उन्हें संपन्न बना सकती है। इस प्रकार की कार्यप्रणाली भारत की संप्रभुता और एकात्मता के लिए हानिकारक है और यह ऐसी स्थिति पैदा कर सकती है जिससे भारत एक अन्य विभाजन की ओर बढ़ जाए।

कुछ उदाहरणों का उल्लेख करते हुए याची ने कहा कि भारत सरकार ने कुछ योजनाओं के लिए आर्थिक मानदंड निर्धारित किए और अधिसूचित अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्यों के लिए 6 लाख प्रतिवर्ष की आयसीमा के रहते यह लाभ उपलब्ध करवाए। दूसरी ओर हिंदू बहुसंख्यकों में 6 लाख प्रतिवर्ष की आयसीमा में रहने वाले लोगों के लिए यह लाभ उपलब्ध नहीं है। इसलिए सरकार की यह कार्रवाई जरूरतमंद और निर्धन नागरिकों की सहायतार्थ नहीं थी बल्कि समाज के एक ऐसे वर्ग को लाभ पहुँचाने के लिए थी जो धर्मविशेष से संबद्ध थे। इसलिए यह कार्रवाई पूरी तरह भेदभावपूर्ण है।

भारत जैसे धार्मिक और सांस्कृतिक बहुलता वाले देश में किसी धर्म को प्रोत्साहित करना विनाशकारी हो सकता है। वास्तव में इससे धार्मिक अल्पसंख्यकों के बहुसंख्यक समाज में समरस होने में बाधा पड़ रही है। साम्राज्यवादी योजना ने 'अल्पसंख्यक' शब्द को जन्म दिया था। ताकि वे देश पर राज कर सकें। इससे जो अल्पसंख्यकवाद उपजा उसी के परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ परंतु देश ने इससे सबक नहीं लिया और अब अल्पसंख्यक की आड़ में अल्पसंख्यकवाद की राजनीति भारतीय एकता और अखंडता को ध्वस्त कर रही है

यद्यपि याचिका न्यायालय में विचाराधीन है तथापि याची ने इसके माध्यम से भारत के तथाकथित पंथनिरपेक्ष संविधान पर गंभीर प्रश्न उठाए हैं। जहाँ पर धार्मिक अल्पसंख्यकों को बिना किसी जवाबदारी के कुछ लाभ दिए जाते हैं परंतु इस प्रकार का संरक्षण बहुसंख्यक हिंदू समाज को उपलब्ध नहीं है। क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यह धार्मिक प्रोत्साहन की नीति गैर अल्पसंख्यक समाज को अल्पसंख्यक बनने के लिए प्रोत्साहित नहीं करती? 'अल्पसंख्यक' को परिभाषित न करने के कारण सरकार ने इतनी अधिक शक्ति हथिया ली है कि तुष्टीकरण की नीति को अपना सके।

भारत जैसे धार्मिक और सांस्कृतिक बहुलता वाले देश में किसी धर्म को प्रोत्साहित करना विनाशकारी हो सकता है। वास्तव में इससे धार्मिक अल्पसंख्यकों के बहुसंख्यक समाज में समरस होने में बाधा पड़ रही है। साम्राज्यवादी योजना ने 'अल्पसंख्यक' शब्द को जन्म दिया था। ताकि वे देश पर राज कर सकें। इससे जो अल्पसंख्यकवाद उपजा उसी के परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ परंतु देश ने इससे सबक नहीं लिया और अब अल्पसंख्यक की आड़ में अल्पसंख्यकवाद की राजनीति भारतीय एकता और अखंडता को ध्वस्त कर रही है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'पंथनिरपेक्षता, समानता और बंधुत्व' को भारत का लक्ष्य घोषित किया गया है परंतु वास्तव में अलगाव को बढ़ावा दिया जाता है। अभी भी एक ही देश में नागरिकों पर समान कानून लागू नहीं हैं। विभिन्न धर्मों के लोग विभिन्न 'पर्सनल लॉ' (स्वीय विधि) से शासित होते हैं। मुस्लिम कानून आज भी नियमबद्ध नहीं (कोडिफाइड) हैं। इसी प्रकार हिंदू मंदिर ही सरकार के नियंत्रण में हैं जबकि मस्जिदें और चर्च पूरी तरह मुक्त हैं। हिंदू धार्मिक एवं धर्मार्थ एवं धर्मादा कानून राज्य सरकारों को यह अधिकार देता है कि वे हिंदू मंदिरों का अधिग्रहण कर उनके विशाल खजानों और संपत्तियों पर नियंत्रण कर लें। राज्य सरकारों को यह भी अधिकार है कि वे मंदिरों से प्राप्त दान को किसी भी ऐसे काम में लगा सकती है जिनका हिंदू धर्म संबंधी कार्यों अथवा मंदिरों से कोई संबंध नहीं है।

यदि हमने भारतीय संविधान में धार्मिक अल्पसंख्यक की अवधारणा को न लिया होता तो भारत अधिक सशक्त होता। जब संविधान पंथनिरपेक्ष है और धार्मिक समानता की बात करता है तब धार्मिक अल्पसंख्यकों को परिभाषित किए बिना विशेष संरक्षण देने का क्या अर्थ है? भारत में अल्पसंख्यकों के धार्मिक उत्पीड़न के किसी तरह के इतिहास के अभाव में उनके लिए विशेषाधिकारों का प्रावधान करना तर्कसंगत नहीं है। यह धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए भी अच्छा नहीं है क्योंकि इससे वे वोट बैंक की राजनीति और धार्मिक तुष्टीकरण के शिकार होते हैं। इस संदर्भ में भारत में संविधान संशोधन की आवश्यकता है जिससे कि धार्मिक अल्पसंख्यकों को विभाजनकारी विशेष संरक्षण समाप्त हो तथा संविधान के विरोधाभास समाप्त हो सकें।

संदर्भ:

1. स्टीवेन कॉन, *सेकुलरिज्म, पास्ट ऐंड फ्यूचर* [एंड्र्यू कॉप्सन कृत *सेकुलरिज्म: पॉलिटिक्स, रेलिजन ऐंड फ्रीडम,* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017, की समीक्षा। वेबसोर्स: https://origins.osu.edu/review/secularism-past-and-future?language_content_entity=en
2. वही
3. *कॉनफ्लिक्ट बिट्वीन द चर्च ऐंड द स्टेट। मेडिवल पीरियड आर्टिकल शेयर्ड*, मोनालिसा एम, वेबसोर्स: https://www.politicalsciencenotes.com/medieval-political-thought/conflict-between-the-church-and-the-state-medieval-period/1
4. https://www.speakingtree.in/blog/ekam-sat-vipra-bahuda-vadanti.
5. https://www.financialexpress.com/india-news/british-took-45-trillion-out-of-india-in-200-years-s-jaishankar/1723675/ 1st Oc.2019.
6. एडमिनिस्ट्रेटिव चेंजेज इन इंडिया आफ्टर 1858। इंडियन हिस्ट्री, मोनिका रॉय। वेबसोर्स: http://www.historydiscussion.net/history-of-india/administrative-changes-in-india-after-1858-indian-history/6321
7. https://www.constitutionofindia.net/historical_constitutions/government_of_india_act_1935_2nd%20August%201935
8. यह संकल्प जवाहरलाल नेहरू वाङ्मय, खंड 8 में पृ. 63 पर उपलब्ध है।
9. द फ्रेमिंग ऑफ इंडियन कांस्टीट्यूशन: सेलेक्ट डॉक्यूमेंट्स, सं. बी. शिवाराव, खंड 1, भाग 1, पृ.81
10. http://www.historydiscussion.net/essay/constituent-indian-assembly-between-the-years-1946-to-1950/2115
11. https://rajyasabha.nic.in/rsnew/constituent_assembly/constituent_assembly_mem.asp.
12. कांस्टीट्यूशन असेंबली डिबेट्स ऑन 4 जनवरी, 1949
13. कांस्टीट्यूशन असेंबली डिबेट्स ऑन 25 मई, 1949, भाग II
14. https://www.aljazeera.com/indepth/opinion/2014/06/are-india-muslims-minority-201463122145787274.html
15. माइनॉरिटी इन इंडियन कांस्टीट्यूशन, आशुतोष कुमार झा, रीविजिटिंग आवर कांस्टीट्यूशन, सं. राम बहादुर राय एवं डॉ. महेश चंद्र शर्मा, पृ. 153-154, 2019
16. वही
17. शुक्ल, कांस्टीट्यूशन असेंबली डिबेट, पृ. 890
18. वही, पृ. 924
19. शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक-वर्गों का अधिकार (1) धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा। [(1क) खंड (1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक-वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित शिक्षा संस्था की संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबंध करने वाली विधि बनाते समय, राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी संपत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि द्वारा नियत या उसके अधीन अवधारित रकम इतनी हो कि उस खंड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार निर्बन्धित या निराकृत न हो जाए।]
(2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसीअल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबंध में है।
20. 1957 [1958] INSC 20.
21. 2002(8) SCC 481
22. http://ncm.nic.in/Genesis_of_NCM.html
23. https://timesofindia.indiatimes.com/business/india-business/62-increase-in-funding-for-minority-affairs-in-union-budget/articleshow/62742314.cms
24. (1986)3SCC908.
25. अनुच्छेद 27: (किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय के बारे में स्वतंत्रता) किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक संप्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किए जाते हैं।
26. भारतीय संविधान अनुच्छेद 29 - अल्पसंख्यक-वर्गों के हितों का संरक्षण
(1) भारत के राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।
(2) राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।
27. अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यकों को शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना और उनके प्रशासन का अधिकार देता है। यह कहता है, "सभी अल्पसंख्यकों को, चाहे वे धर्म के आधार पर हों या भाषा के, अपनी पसंद के शिक्षा संस्थानों की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा।
28. प्रफुल्ल गोराडिया बनाम भारत संघ, 28 जनवरी 2011
29. AIR 1992 SC 1630:
30. 1974)AIR(SC)1389
31. रिट पिटीशन (C) No-136 of 2014.
32. अनुच्छेद 30 केवल धार्मिक अल्पसंख्यकों को ही संरक्षण देता है और वे अपने शैक्षणिक संस्थानों के संचालन के लिए सरकार से निधि भी प्राप्त कर सकते हैं। सामाजिक न्याय के लिए बनाया गया कोई भी कानून अल्पसंख्यकों के शैक्षणिक संस्थानों पर लागू नहीं होता। न तो शिक्षा का अधिकार जिसके तहत 25% सीटें कमजोर वर्गों (अनुच्छेद 21 क) के लिए आरक्षित हैं और न ही अनु.जा./ ज.जा./ अ.पि.व. के लिए लागू आरक्षण का विधान। चाहे वे सरकार से सहायता प्राप्त (अनुच्छेद 15 (5)) हों या फिर न हों। लेकिन यह विशेषाधिकार किसी भी गैर-अल्पसंख्यक संस्थान को प्राप्त नहीं है। चाहे भले उन्हें सरकार से कोई सहायता भी प्राप्त न हो रही हो। वे अनुच्छेद 21 (क) तथा अनुच्छेद 15(5) के क्रियान्वयन के लिए बाध्य हैं।
33. (2003)6 SCC 697.
34. प्रश्न सं. 2 प्रोक्ति 7 का निर्णय करते हुए
35. रिट पिटीशन सिविल नं. 1568/2019.

प्रो. श्रीप्रकाश सिंह

अल्पसंख्यक प्रश्न एवं संवैधानिक प्रावधान

हमारे संविधान में अल्पसंख्यक वर्ग के हित संरक्षण हेतु तो प्रावधान किए गए लेकिन इसके कोई मानक आज तक तय नहीं किए जा सके। यह स्थिति किस तरह हमारे लोकतांत्रिक ढाँचे के लिए एक संकट बन रही है, एक विश्लेषण

संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के रूप में भारतीय संविधान सभा ने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में समता और न्याय के आदर्शों को स्वीकार किया। वैश्विक अनुभवों को संविधान में समाविष्ट करते हुए प्रभुत्त्वसंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य 26 जनवरी 1950 को स्वीकार किया गया। संविधान ने विगत सात दशकों में बहुआयामी सफल यात्रा की है लेकिन अनेक विषय चुनौती के रूप में हमारे समाज में स्थापित हुए हैं। भारत का अपना इतिहास बताता है कि हमारी परंपरा और सभ्यता समग्र को समेट लेने की सामर्थ्य रखने वाली है। इसके बावजूद संविधान सभा के उदेश्य के विपरीत अल्पसंख्यक प्रश्न और 'वाद' सभी राजनैतिक और सामाजिक विमर्श चुनौतीस्वरूप बने हुए हैं। अल्पसंख्यक प्रश्न आज प्रत्येक नीति की कसौटी बन गया है।[1] अल्पसंख्यक विषय पर प्रस्तुत इस लेख में संविधान सभा के वाद-विमर्श को आधार बनाया गया है। अल्पसंख्यक अधिकारों और संवैधानिक प्रावधानों का अध्ययन करने के अब तक के जो भी बौद्धिक प्रयास रहे हैं उनमें एकपक्षीयता पाई जाती रही है। बहुतायत अध्ययनों का झुकाव प्राय: अल्पसंख्यक हित संरक्षण की तरफ रहा है।[2] इस लेख में मुख्यत: राजनैतिक और संवैधानिक प्रावधानों में अल्पसंख्यक अधिकार का क्या रूप है, इसका क्या प्रभाव पड़ा और क्या दुरुपयोग हुए, इसका विश्लेषण किया गया है। संविधान के प्रावधानों के अनुसार किसी भी वर्ग के विरुद्ध या उसके पक्ष में धर्म (रिलीजन), मूलवंश, जन्म स्थान, भाषा या रंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जा सकता है।[3] इसी के अनुरूप संविधान सभा ने सरकारी पदों के लिए सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व या धर्म (रिलीजन) के आधार पर आरक्षण के विधान को अस्वीकार कर दिया।[4] संविधान की उद्देशिका में लिखित उदेश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब संपूर्ण राष्ट्र यथासंभव एक ही स्तर पर आ जाए। इसलिए संविधान में सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों को समान स्तर पर लाने के लिए कुछ स्थायी एवं अस्थायी प्रावधान किए गए हैं। संविधान में समाज के अल्पसंख्यक वर्गों के लिए सांस्कृतिक एवं धार्मिक (रिलीजन) आधार पर अधिकारों के संरक्षण के स्थायी प्रावधान मौलिक अधिकारों में किए गए हैं। यह वे समुदाय हैं जो संख्या की दृष्टि से अल्पमत में हैं।

हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों के प्रावधान के तहत अनुच्छेद 29 और अनुच्छेद 30 तथा अनुच्छेद 350 (क) और 350 (ख) में अल्पसंख्यक शब्द का उल्लेख किया गया है। लेकिन अल्पसंख्यक कौन है और क्यों है, इसको कहीं पर भी परिभाषित नहीं किया गया।[5] अनुच्छेद 29(1) में प्रावधान है कि भारत के राज्य या उसके किसी भी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है उसे बनाए रखने का अधिकार होगा। 29(2) के अनुसार राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी भी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म (रिलीजन), मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 30 शिक्षा संस्थानों की स्थापना और प्रशासन करने के अल्पसंख्यक वर्ग के अधिकार से संबद्ध है। 30 (1) में प्रावधान है कि 'धर्म (रिलीजन) या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का

अधिकार होगा। '30'1(क) खंड-(1) में निर्दिष्ट किसी अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा स्थापित और प्रशासित शिक्षा संस्था की संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए उपबंध करने वाली विधि बनाते समय राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि ऐसी संपत्ति के अर्जन के लिए ऐसी विधि द्वारा नियमन या उसके अधीन अवधारित रकम इतनी हो कि उस खंड के अधीन प्रत्याभूत अधिकार निराकृत न हो जाए। अनुच्छेद 30 (2) के तहत शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी भी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म (रिलीजन) या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग में प्रबंधन में है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 29 और अनुच्छेद 30 का प्रावधान मौलिक अधिकार के रूप में वर्णित धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु.25 से अनु.28) में प्रदत्त समानता के सिद्धांत के अनुरूप नहीं है। इतना ही नहीं, संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा प्रयुक्त शब्द 'पंथनिरपेक्ष' से अनुच्छेद 25-30 या अनुच्छेद 350/क /ख और 351 के स्पष्ट उपबंधों का अध्यारोहण नहीं होता है।[6] सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा है कि[7] अनुच्छेद 25-26 के प्रावधान सभी अल्पसंख्यकों को अधिकार प्रदान करते है परंतु इसका यह अभिप्राय बिलकुल भी नहीं है कि हिंदू को धर्म (जीवन पद्धति) की स्वतंत्रता से वंचित किया गया है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में इस विषय पर 14 अगस्त 1947 से 30 अगस्त 1947 तक एक विशद विचार विमर्श हुआ जो खंड 5 के रूप में उपलब्ध है। इसकी परिभाषा न तो संविधान सभा ने बनाई और न ही स्वतंत्रता के 7 दशक बीत जाने के बावजूद आज तक की कोई सरकार ही बना सकी। जबकि इस संदर्भ में टी.एम.ए. पाई फाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य (1973) 4 एस.सी.सी. 286 में 11 न्यायाधीशों की विशेष पीठ ने 2002[8] में निर्णय दिया था कि शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना और उनको प्रशासित करने का अधिकार सभी नागरिकों का है। अनु. 30 में प्रदत्त अधिकार केवल अल्पसंख्यक वर्गों के लिए ही नहीं अपितु सबके लिए है। इसी निर्णय में कहा गया है कि 'भाषाई अल्पसंख्यक और धार्मिक (रिलीजन) अल्पसंख्यक' कौन-कौन है इसकी व्याख्या करने की इकाई राज्य होंगे।[9] इसके अलावा केरल शिक्षा विधेयक (1956), सेंट स्टीफन कॉलेज बनाम दिल्ली विश्वविद्यालय (1992), इस्लामिक एकेडमी ऑफ एजुकेशन बनाम कर्नाटक राज्य (2004), पी.ए. इनामदार बनाम महाराष्ट्र राज्य (2004-2005) आदि अनेक वाद सर्वोच्च न्यायपालिका के सामने आए और निर्णय भी दिए गए हैं। इसी के परिणामस्वरूप 2007 में, राष्ट्रीय धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट में एक बार पुनः 'अल्पसंख्यक' शब्द पर विचार किया गया। इस प्रक्रिया में अल्पसंख्यक शब्द के कुल तीन विचारणीय पक्षों को चिन्हित किया गया है।

प्रथम, बोलचाल की भाषा में, 'अल्पसंख्यक' शब्द का अभिप्राय ऐसे समूह से है जिनकी जनसंख्या संपूर्ण जनसंख्या के आधी से भी कम हो, और तथा जो विशेष रूप से जाति, धर्म, परंपराओं तथा संस्कृति-भाषा आदि की दृष्टि से प्रधानतः अन्यों से भिन्न वर्ग हो।[10] रिपोर्ट की इस पंक्ति में दो शब्द पहला 'बोलचाल' दूसरा 'अन्य' पर गौर करने की आवश्यकता है जो अपने आप में सामाजिक और राजनैतिक विरोधाभास की कसौटी को निर्मित करती है। इस निर्मिति में सामाजिक लोकतंत्र को व्यक्तिगत हितसाधक राजनीति में परिवर्तित करने के एक प्रयास के रूप में देखा जा सकता है।[11] जिसमें समानता एक लोकतांत्रिक मूल्य की तरह स्वीकार नहीं की जा रही बल्कि राजनैतिक रणनीति का हिस्सा है। इस 'बोलचाल' की संकल्पना को वैधानिकता देने के लिए रिपोर्ट में 1946 के संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार द्वारा बनाए गए अल्पसंख्यक अधिकार की उप-समिति का हवाला देते हुए कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग ने जनसंख्या के उन गैर प्रभावी समूहों को अल्पसंख्यक माना है जो जातीय धर्म (रिलीजन) तथा भाषा के आधार पर विशिष्टता बनाए रखे। यह अल्पसंख्यक की परिभाषा को और भी विवादास्पद बनाता है। इस विशेष शब्द का आशय यह है कि केंद्रीय सरकार के द्वारा ऐसे प्रयोजन किए गए, जिसे अधिसूचित समुदाय के रूप में धारा 2(7) उपबंध के रूप में कार्य करते हुए केंद्रीय सरकार ने 23-10-1993 को यह अधिसूचित किया कि इस अधिनियम के तहत प्रयोजनार्थ मुश्लिम, इसाई, सिख, बौद्ध तथा पारसी समुदायों को अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में माना जाएगा।[12]

दूसरी परिभाषा नागरिकता के पक्ष से जुडी हुई है। जिसमें चार अधिकारों को बिंदुवार ढंग से अंकित किया गया है।

1. किसी नागरिक को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति बनाए रखने का अधिकार है
2. सभी धार्मिक (रिलीजन) और भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार है।

3. शिक्षा संस्थानों को राज्य द्वारा सहायता देने के मामले में राज्य द्वारा विभेद के विरुद्ध (इस आधार पर विभेद कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है) शिक्षा संस्थाओं का अधिकार है।
4. राज्य द्वारा पोषित या राज्य द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्था में प्रवेश से वंचित किए जाने के विरुद्ध नागरिक अधिकार। अल्पसंख्यक नागरिक की परिभाषा में संस्था, प्रशासन तथा राज्यपोषित क्रियाकलाप को शामिल किया गया है। हालाँकि इस पक्ष को अलग से अवलोकित किया जाना चाहिए।[13]

तीसरा, अल्पसंख्यक में धर्म का अस्पष्टीकरण: भारत में अल्पसंख्यक को धर्म (रिलीजन) के धरातल पर ही रखकर अक्सर देखा जाता रहा है। वास्तविकता यह है कि अल्पसंख्यक धर्म जैसे शब्द का प्रयोग संविधान में किसी भी स्थान पर नहीं है।[14] लेकिन राजनैतिक स्वार्थों एवं विमर्शों ने इस अवधारणा को अधिक ही प्रचलित कर दिया है। जबकि भारतीय परंपरा में धर्म किसी भी अर्थ में किसी समुदाय विशेष के लिए नहीं है। बल्कि यह कर्तव्य और राज्य संचालन का अभिन्न अंग है। इस संबंध को संस्कृति के रूप में समझा जाना चाहिए।

'संस्कृति' को परिभाषित करते हुए संविधान सभा में प्रो. के.टी. शाह (सदस्य प्रारूप समिति) ने कहा था कि 'यह भाषा, क्षेत्र, लिपि आदि से बना एकांगी विषय नहीं अपितु अथाह समुद्र है जिसमें किसी भी समुदाय की भौतिक और आध्यात्मिक विरासत शामिल होती है। चाहे हम कला विज्ञान, धर्म या दर्शन के कुछ भी सोचें, संस्कृति में सभी कुछ समाहित है। परंतु राजनैतिक विवशताओं और सत्ता की राजनीति ने धार्मिक अल्पसंख्यकवाद और पूजा पद्धति आधारित व्यवस्था के विचार को प्रमुखता प्रदान की। परिणामस्वरुप अल्पसंख्यकवाद, तुष्टीकरण एवं धर्म (पूजा पद्धति) परिवर्तन जैसी अनेकों समस्याओं को जन्म मिला। इसलिए आवश्यकता है कि संविधान के प्रावधानों के अनुसार अनुच्छेद 30 (1) की पुन: व्याख्या की जाए और अल्पसंख्यक प्रश्न को राज्य की विषयवस्तु मानकर निर्णय लिया जाए तभी न्याय हो सकता है। अनुच्छेद 30 में वर्णित भाषाई अल्पसंख्यक का विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि भारत में स्वतंत्रता के उपरांत राज्यों का पुनर्गठन भाषाई आधार पर हुआ है। भाषाई अल्पसंख्यक का विचार महत्वपूर्ण होते हुए भी लुप्तप्राय है। यह धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यकों के लिए अकेला उपलब्ध अधिकार है, परंतु यह अनुच्छेद तथाकथित बहुसंख्यक हिंदू समाज - जो अपने जातीय, क्षेत्रीय, भाषाई एवं पूजा पद्धतियों के अलग-अलग होने के बावजूद एकात्मकता को बनाए हुए है - को ही बाहर कर देता है। परिणामत: हिंदू समाज को वे अधिकार भी उपलब्ध नहीं है जो अल्पसंख्यकों को विशेष रूप से प्राप्त हैं। एक सिंचित है, दूसरा वंचित है। प्रावधान यह है कि अल्पसंख्यक समुदाय अपने धार्मिक (रिलीजन) ग्रंथ और भाषा की शिक्षा स्व-संचालित संस्थाओं में दे सकते हैं परंतु अनुच्छेद 28 की आकांक्षा के अनुरूप राज्य संचालित संस्थाओं में धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती है। अल्पसंख्यक संस्थाओं को अनुच्छेद 30 के अनुसार केवल धर्मगत मान्यता और लिपि से संबद्ध समूह संस्थाएँ स्थापित करने और उनका प्रशासन चलाने की अनुमति है परंतु वे इस संवैधानिक प्रावधान का लाभ उठाकर व्यवसायिक, तकनीकी एवं चिकित्सा शिक्षा के संस्थान निर्मित कर रहे हैं। हिंदू समाज को अपनी जीवन पद्धति से संबद्ध धर्म नीति और लिपियों या भाषा की शिक्षा के लिए शैक्षणिक संस्था बनाने की स्वतंत्रता नहीं है। राज्यपोषित संस्थानों में उपरोक्त प्रकार की शिक्षा देने का कोई प्रावधान भी नहीं है। इन विसंगतियों के कारण बहुत नुकसान हुआ है।

संविधान सभा का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था, लगभग सभी सदस्य तुष्टीकरण के विरोधी थे। उन्होंने सामूहिक प्रयास भी किया कि पंथनिरपेक्ष और अल्पसंख्यकवाद शब्द के उपयोग से बचा जा सके। संविधान सभा सदस्य प्रो. नजिरुल हसन के प्रस्ताव पर कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भारत के उपप्रधानमंत्री और गृहमंत्री सरदार पटेल ने कहा था कि :

"भारत का नया राष्ट्र किसी भी प्रकार की विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को सहन नहीं करेगा। यदि फिर भी वही मार्ग अपनाया जाना है जिसके कारण देश का विभाजन हुआ, तो जो लोग पुन: विभाजन करना चाहते हैं और फूट के बीज बोना चाहते हैं, उनके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं होगा, कोई कोना नहीं होगा.....।

किंतु मैं अब देखता हूँ कि उन्हीं युक्तियों को फिर से अपनाया जा रहा है जो उस समय अपनाई गई थीं जब देश में पृथक -निर्वाचक मंडलों की पद्धति लागू की गई थी। मुस्लिम लीग के वक्ताओं की वाणी में प्रचुर मिठास होनें पर भी अपनाए गए उपाय में विष की भरपूर मात्रा है।[15] सरदार के वक्तव्य में एक धर्म (रिलीजन) विशेष को लेकर चिंता है जिसकी ओर इंगित करते हुए 17 दिसंबर 1946 को डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भी कहा था कि : "जब हम अल्पसंख्यक के संदर्भ में कुछ कहते हैं तो उसमें इस बात का आभास ज्यादा होता है कि मानो मुसलमान ही इस देश का अल्पसंख्यक है। मैं बंगाल के दुर्दशाग्रस्त प्रांत से आता हूँ और इस सभा को याद दिलाना चाहता हूँ कि भारत के कम से कम चार प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यक है।"[16] परंतु कोई स्पष्ट राय नहीं बनाई जा सकी। अल्पसंख्यक स्वयं में एक ऐसी पहचान बनता जा रहा है जिसका प्रसार ही बहुसंख्यक के विरोध में है। अनेकानेक राजनैतिक दल विशेष कर कांग्रेस ने इसका उपयोग अपने राजनैतिक हित को साधने के लिए किया है। रजनी कोठारी का भी मानना है कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक पर होने वाली बहसों की जड़ता इस प्रकार राजनैतिक दलों के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है कि मानो पंथनिरपेक्षीकरण का कार्य पूरा हो चुका हो। हालाँकि इस बात की चिंता संविधान सभा में अनुभव की जा रही थी। जैसा कि पंडित गोबिंद बल्लभ पंत का मानना है कि हम किसी समुदाय को पहचान के रूप में अंकित नहीं कर सकते। बल्कि हमारे लिए नागरिकता ही पहली पहचान होगी जो संविधान के आधार पर तैयार की जा रही है। यह संविधान लोगों की पहचान का आधार होगा। नागरिकता के आवरण में ही हम लोगों को देख सकते हैं। नागरिकता ही हमारे लिए सामाजिक पिरामिड है।[17] इस पूरे विषय में ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एक विशेष प्रकार की पूजा पद्धति को ही

अल्पसंख्यक मान लिया गया है।

निष्कर्ष के तौर पर, संवैधानिक प्रावधानों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भारत में भी अन्य देशों की भाँति अल्पसंख्यक प्रश्न राजनैतिक प्रक्रियाओं में विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। परंतु भारत में अल्पसंख्यक प्रश्न और उनकी समस्याएँ अल्पसंख्यक के नाम पर धर्म विशेष का ध्रुवीकरण, लोकतांत्रिक ढाँचे के लिए ही संकट बनने लगा है। इस संकट के समाधान के लिए आवश्यक यह है कि अनुच्छेद 29 और अनुच्छेद 30 की पुनः व्याख्या की जाए जिससे संविधान सभा के दूरगामी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके और संविधान का यह प्रावधान सभी के लिए समान रूप से उपयोगी हो।

संदर्भ

1. विल किमलिका (2001)। *लिबरलिज्म, कम्युनिटी एंड कल्चर*- ऑक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस- पृष्ठ संख्या-22
2. इस प्रकार के झुकाव ने समाज विज्ञान में अल्पसंख्यक की अवधारणा से लेकर उनके अधिकारों तक को सिर्फ शंका से भर दिया है। जिससे अधिकारों की एक सूची तो बन जाती है लेकिन अल्पसंख्यक कहें किसको, कहने का आधार क्या है, इन सब प्रश्नों का आकलन मौजूदा राजनैतिक बहसों से गायब हो जाता है या फिर इनसे बच निकलने की कोशिश होती है। इन बहसों को सरसरे तौर पर देखने के लिए देखें. क्वामे एंथोनी अप्पिया (1997)। मल्टीकल्चरल मिसअंडरस्टैंडिंग, न्यूयार्क : *रिव्यू ऑफ बुक्स,* 44 (15): 30-6, साथ ही फिलिप्स की पुस्तक एक विशेष बहस की तरफ इशारा करती है जिसका मुख्य आधार भी व्यक्तित्व को ही राजनैतिक आयाम के रूप में विश्लेषित किया गया है. देखें मुख्य रूप से अध्याय दो. ऐनी पिलिप्स (2007)। *मल्टीकल्चरललिज्म विदाउट कल्चर*। प्रेस्टन : प्रेस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. अनुच्छेद 14, संकलित ब्रज किशोर शर्मा (2019)। भारत का संविधान : एक परिचय। नई दिल्ली : पी एच आई।
4. वही
5. श्री प्रकाश सिंह (2015)। डॉ. अंबेडकर : अल्पसंख्यक प्रश्न एवं संवैधानिक प्रावधान। नई दिल्ली : अनामिका पब्लिकेशन। पृष्ठ संख्या। 116-117 साथ ही संविधान सभा में इस पक्ष को देखना दिलचस्प था कि जब मुश्लिम सदस्यों ने संसदीय सरकार पर यह कह कर आक्रमण किया कि सच्चा लोकतंत्र केवल स्विस प्रणाली ही स्वीकार कर सकती है क्योंकि उसमें बहुमत की तानाशही के स्थान पर सभी समुदाय के प्रतिनिधियों को जगह दी जाती है। तो डॉ. अंबेडकर ने यह जबाब दिया था कि नयी अनुसूची में उनके हितों की पूरी रक्षा की जाएगी। इसके लिए कार्यपालिका में अल्पसंख्यक के लिए लिखित प्रावधान किए जाएंगे। साथ ही, प्रारूप समिति ने राष्ट्रपति और संसद को इसके अधिकार क्षेत्र का भागीदार भी बनाया। देखे। 1948 की मुद्रित सूची ; बी. शिवा राव, सेलेक्टेड डॉक्युमेंट (iii)।
6. रिपोर्ट अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या-3
7. केस संतोष बनाम सचिव, मानव संसाधन मंत्रालय (1994), 6 एस.सी. सी- पृष्ठ संख्या-579
8. पन्ना लाल पित्री बनाम आंध्र प्रदेश राज्य, ए. आई.आर.1996 एस.सी.1023 एवं बृज किशोर शर्मा (2010). भारत का संविधान : एक परिचय (सातवाँ संस्करण)। नई दिल्ली : पी एच आई. पृष्ठ संख्या-117।
9. टी.एस. ए पाई फाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य (2002).एम सी.सी. पृष्ठ संख्या 712।
10. रिपोर्ट अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या-3
11. इस पक्ष पर सैद्धांतिक समझ के लिए टाकविल के इस कथन को प्रासंगिक मान सकते हैं कि राजनैतिक जगत में समानता स्थापित करने के केवल दो तरीके हैं- या तो प्रत्येक नागरिक को उसके अधिकार प्रदान किए जाएँ या फिर किसी के भी पास अधिकार न हों। विस्तृत बहस के लिए देखें. टाकविल (1958)। *अमेरिका में प्रजातंत्र*- बम्बई : पर्ल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड- पृष्ठ संख्या-64। भारत में इस अवस्था के उदाहरण के रूप में कश्मीर से पलायन कर चुके हिन्दू अल्पसंख्यक के रूप में देखा जा सकता है. जिसे नागरिक के स्थान पर भीड़ मान कर चिन्हित किया गया।
12. रिपोर्ट अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय, भारत सरकार- पृष्ठ संख्या-3
13. रिपोर्ट में यह वर्गीकरण भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29 तथा 30 के तहत किया गया है। क्योंकि रिपोर्ट ने विधिक ढाँचे को लेकर यह स्पष्ट किया है, कानून प्रवर्तक एजेंसियों ने यह भ्रम पाल रखा है कि सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 अस्पृश्यता संबंधी अपराधों के प्रवर्तन के संबंध में केवल अनुसूचित जातियों को संरक्षण प्रदान करने के लिए ही अधिनियमित किया गया है। अतः इस संदर्भ में कानून की प्रक्रिया को और सुग्राही बनाने की आवश्यकता है। देखें, वही : पृष्ठ संख्या 7।
14. वही, पृष्ठ संख्या 12।
15. सरदार पटेल का यह कथन संविधान सभा में मौलिक अधिकारों की बहस में दिया गया था, विस्तृत विमर्श के लिए देखें, *भारतीय संविधान सभा के वाद विवाद की सरकारी रिपोर्ट* (2015 हिंदी संस्करण) खंड एक या पुस्तक संख्या 1- पृष्ठ संख्या 17
16. भारतीय संविधान सभा के वाद विवाद की सरकारी रिपोर्ट (2015)। हिंदी संस्करण, लोकसभा सचिवालय। नई दिल्ली।
17. संविधान सभा वाद विवाद (अंगेजी संस्करण) भाग 2- पृष्ठ संख्या-332

प्रो. अमर पाल सिंह

भारत में सांप्रदायिक राजनीति की औपनिवेशिक भावभूमि

आज जिस रूप में हम देश में संप्रदायों के तुष्टीकरण पर केंद्रित राजनीति को देख रहे हैं, इसकी जड़ें वस्तुतः सांप्रदायिक शासन की उन योजनाओं में निहित हैं जो भारत की स्वतंत्रता को अधिक से अधिक समय तक टालने के लिए रची गई थीं। अतीत पर एक विहंगम दृष्टि

कई बार ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान समय की बुराइयों की जड़ें इतिहास में दबी पड़ी है। अभी तक जो हो चुका है, उसे बदला नहीं जा सकता। क्योंकि कालप्रवाह के मार्ग पर केवल एकतरफा यातायात होता है। पहले जो कुछ हो चुका है उन घटनाओं के परिणाम भुगतने ही पड़ेंगे। भारत का देशी सांप्रदायिक ध्रुवीकरण ऐसी ही एक घटना प्रतीत होता है जो अतीत के कुछ उलझे हुए घटनाक्रमों के कारण हमारे लिए पहले से ही विद्यमान रहा है तथा अगली पीढ़ियों के लिए भी यह एक निर्विवाद तथ्य की तरह बना रहेगा। अब चाहे वे इसे पंसद करें या नापसंद, पर इसका सामना तो करना ही पड़ेगा। भारत के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि इस प्रकार का ध्रुवीकरण कभी भी भारतीय जीवनशैली का भाग नहीं रहा है। भारत एक ऐसा देश रहा है जहाँ विविध ता को धैर्य के साथ न केवल स्वीकार किया गया, बल्कि उसे सराहा भी गया है। वहीं दूसरी ओर पश्चिमी परंपरा में विविधता को या तो हाशिये पर रखा गया या फिर एक अवांछनीय तत्व मानकर परिदृश्य से बिलकुल बाहर ही कर देने की कोशिश की गई। जबकि भारत में पांथिक आस्थाओं के वैविध्य को हमेशा खुलकर स्वीकार किया गया तथा इसे भारत की पारंपारिक जीवनशैली का एक हिस्सा माना गया। विदेशी आक्रमणों द्वारा किए गए अनवरत प्रहार, जजिया कर लगाकर स्थानीय धर्मो के क्रूर दमन तथा अंग्रेजों की 'फूट डालो राज करो' की उस घातक नीति के कारण भारत के सांस्कृतिक जीवन का संतुलन बिगड़ा है। दासता की बेड़ियों को भारत की जनता के लिए चिरकालिक बना देने के लिए विदेशी उपनिवेशवादी शासकों की यही नीतियाँ रही हैं।

सांप्रदायिक विभाजन का प्रारंभ

बीसवीं सदी के प्रारंभ में जो सांप्रदायिक समस्याएँ उभरकर सामने आई और जिनके फलस्वरूप अल्पसंख्यक संबंधी मुद्दों ने सर उठाना शुरू कर दिया, तथा जिनके कारण वर्ष 1947 में देश का विभाजन भी हुआ, उनकी गहरी जड़ें संप्रदाय आधारित निर्वाचक मंडल तथा मुस्लिम लीग की संप्रदाय आधारित राजनीति में जमी थीं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शुरू हुए संवैधानिक आंदोलनों के चलते संविधान निर्माण पर बातचीत आरंभ हुई और मॉर्ले-मिंटो सुधारों और मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के रूप में परिण ात हुई। औपनिवेशिक सरकार द्वारा हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों के बीच सुनियोजित ढंग से लगातार मतभेदों के बीज बोए गए और इसी के फलस्वरूप मुस्लिम लीग, सेंट्रल सिख लीग और हिंदू महासभा का गठन हुआ। अनेक आवाजों में से वह एकमात्र आवाज भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी जो एक संवैधानिक व्यवस्था में सभी संप्रदायों को उचित स्थान प्रदान करने हेतु औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर चुनाव लड़ रही थी।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में तेजी से हो रहे ध्रुवीकरण के कारण आमजन के सहज विश्वास में कमी आ गई। बंगाल प्रांत में इस चरण के दौरान इस्लामीकरण की उभरती लहर

के कारण संस्कृति के उन पहलुओं को धीरे धीरे अस्वीकार कर दिया गया जो अनिवार्यता: बंगला थे। संयुक्त प्रांत तथा पंजाब में भी इसी प्रकार की प्रवृति दिखाई दी, जिसके परिणामस्वरूप आमजन के बीच की आपसदारी अगर पूरी तरह बिखरी नहीं, तो भी उसमें ह्रास जरूर आ गया था। सूफी तथा भक्ति परंपराए या तो विलुप्त होने के कगार पर पहुँच गई या फिर बिल्कुल अलग-थलग पड़ गई।[1] इसी पृष्ठभूमि में लॉर्ड कर्जन ने बंगाल के विभाजन की योजना बनाई। इस कारण फैली व्यापक अंशाति से निपटने के लिए दो भिन्न उपाय किए गए। इस अंशाति से निपटने के लिए दो भिन्न उपाय किए गए। एक तरफ अंशाति को दबाने के लिए कठोर कदम उठाए गए तो दूसरी तरफ इसमें कुछ सुधार कर सरकार ने नरम दल को अपने पक्ष में करने का निर्णय लिया। लॉर्ड मिंटो ने भारत पहुँचकर आगा खां से भेंट की जिन्होंने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की माँग रखी। भारत सरकार का यह सरकारी दृष्टिकोण था कि यह क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व भारत की जनता के लिए उपयुक्त नहीं है, तथा वर्ग अथवा हितों के आधार पर उनका प्रतिनिधित्व ही भारतीय विधायी परिषदों के गठन में चुनावी सिद्धांत को मूर्त रूप प्रदान करने की एकमात्र व्यावहारिक विधि है।

पृथक निर्वाचक मंडल : समस्या का प्रारंभ

इसलिए मॉले-मिंटो सुधार प्रस्ताव में विभिन्न समुदायों, वर्गों तथा हितों के उचित प्रतिनिधित्व हेतु पृथक निर्वाचक मंडल का विचार प्रस्तुत किया गया। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने इसकी कड़ी आलोचना की क्योंकि वे जानते थे कि इससे राष्ट्र की एकता के विकास में बाधा पहुँचेगी। और सांप्रदायिक भेदभाव बढ़ जाएगा। सही मायने में उन्होंने से राष्ट्र की एकता को कमजोर करने के लिए ब्रिटिश हुकूमत की जानबूझ कर अपनाई जाने वाली एक कूटनीतिक रणनीति के रूप में देखा।[2] लॉर्ड अलिवर ने वर्ष 1926 में लिखा था, "इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि कुल मिलाकर भारत में ब्रिटिश अधिकारीवर्ग का पलड़ा मुस्लिम समुदाय की ओर खासतौर से झुका हुआ है, कुछ हद तक तो उसके प्रति अत्यधिक सहानुभूति के कारण तथा व्यापक रूप से इस कारण कि वह हिंदू राष्ट्रवाद को कमजोर करना चाहता है।"[3] यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सर्वोच्चता को बनाए रखना ब्रिटिश शासन की प्रमुख आवश्यकता थी और इसी के अनुरूप औपनिवेशिक शासन की राजनैतिक रणनीतियाँ निर्धारित होती थीं। लॉर्ड मिंटो तथा श्री मॉर्ले दोनों ने ही अपने पत्रों एवं परिपत्रों में भेदभाव के विचार का खुलेआम इस्तेमाल किया। एच वी हडसन ने ब्रिटिश दृष्टिकोण को न्यायोचित ठहराते हुए लिखा है, "अंग्रेज तब तक जनता में फूट डालकर उनपर शासन नहीं कर सकते जब तक कि जनता आपस में फूट के लिए तैयार नहीं हो जाती। साथ ही, यह मानने के लिए तैयार न हो जाती कि समस्या की जड़ वास्तव में धर्म (रेलिजन), संस्कृति, इतिहास परंपरा, राजनैतिक-आर्थिक इतिहास तथा विभिन्न समुदायों के निजी हितों में भेद का एक अनिवार्य परिणाम थी, खासकर हिंदुओं और मुसलमानों के संदर्भ में।"[4]

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व का जहर राष्ट्रीय एकता की राह में एक प्रमुख बाधा बन गया। लखनऊ समझौता वस्तुत: उस सांप्रदायिक राजनीति की एक ठोस अभिव्यक्ति मात्र था, जो कई वर्षों से चल रही थी और औपनिवेशिक शासन के संरक्षण में पोषित और प्रवर्तित हो रही थी। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में भी कांग्रेस की नीति 'संवैधानिक आंदोलन' से जुड़ी हुई थी तथा उसके प्रयोजन याचिका दस्तावेजों के अंतर्गत

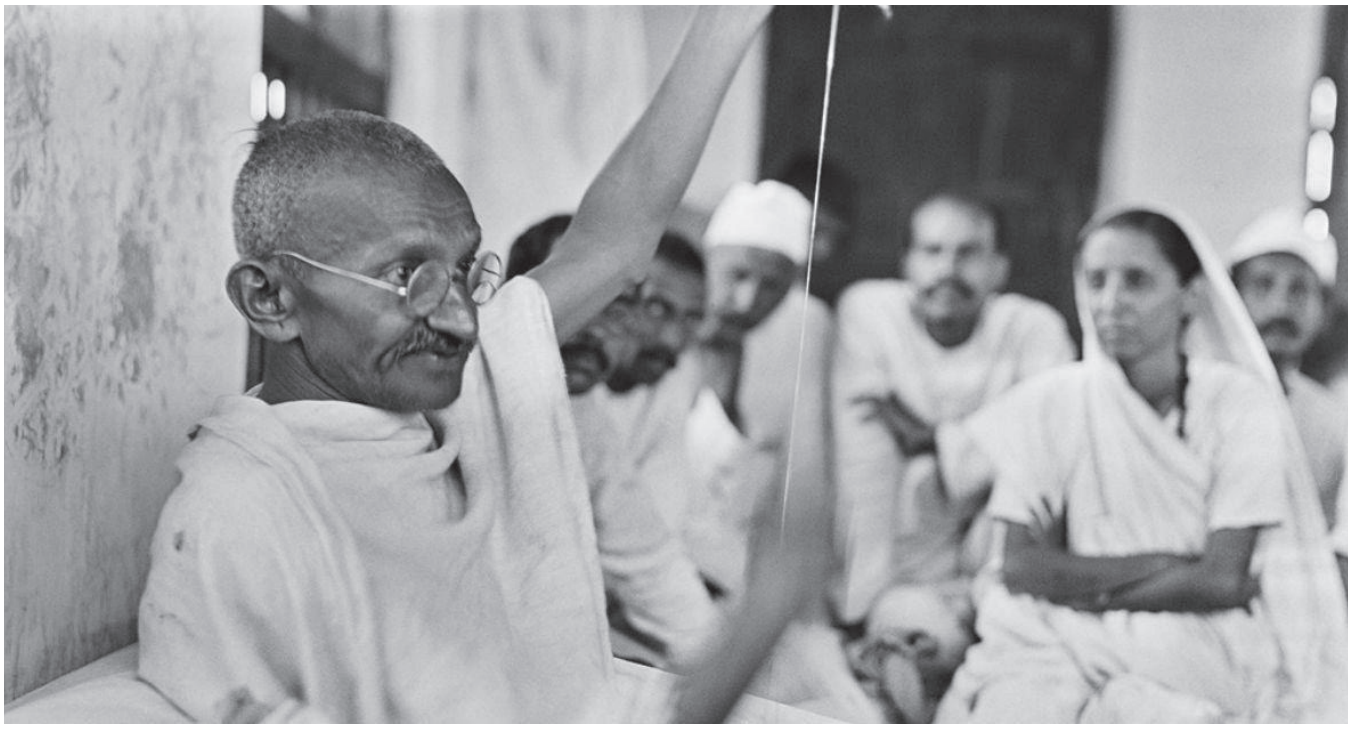

रैखिक संविधानवाद में परिभाषित थे। इस प्रकार उनका अपने ही जैसे संविधानवादी मुस्लिम लीग के साथ समझौता हो गया, जिससे केंद्रीय विधान परिषद् में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए पृथक निर्वाचक मंडल का रास्ता साफ हो गया। पर इसमें परेशानी की बात यह थी कि मुस्लिम लीग की मान्यता भारत में मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व करने वाले दल के रूप में मिली। लीग की यह पहचान कांग्रेस के इस दावे के बिलकुल विपरीत थी कि वह लंबे समय से भारत के हिंदू तथा मुसलमान सहित समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है। इससे अकालियों तथा बाद में डॉ. अंबेडकर के लिए भी क्रमशः सिखों तथा दलितों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल तथा एक समुदाय के लिए सीटों के आरक्षण की माँग करने का रास्ता भी खुल गया। इससे काउंसिलों तथा असेंबलियों में सीटें प्राप्त करने के उद्देश्य से निर्वाचक मंडल के निर्माण का विचार भी उभर कर आया। इस प्रकर विधायी निकायों में अपना समुचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने हेतु क्षेत्रीय दलों, जातिगत संगठनों तथा धार्मिक और सांस्कृतिक निकायों का भी प्रादुर्भाव हुआ। दिलचस्प बात यह है कि परिघटनाओं के इसी क्रम में गांधीजी द्वारा शुरू किया गया जनांदोलन भी एक ऐसी घटना के रूप में उभर रहा था जिसका प्रभाव आने वाले दिनों की राजनैतिक घटनाओं पर पड़ना था। यह प्रश्न कि मुस्लिम लीग के पृथक् निर्वाचक मंडल पर समझौता करने तथा उसे स्वीकार करने के लिए तिलक क्यों तैयार हो गए, बहुत भ्रम तथा विवाद पैदा करने वाला है। परंतु यह शायद वर्ष 1907 में सूरत में हुई कांग्रेस के विभाजन जैसी कोई घटना होने से रोकने के लिए किया गया था। सूरत में हुए इस विभाजन ने कई वर्षों तक कांग्रेस को बहुत अवसादग्रस्त बनाए रखा। गरम दल और नरम दल दोनों ही के नेता सूरत विभाजन के बाद पहली बार एक मंच पर साथ आए थे और यह सोचा गया होगा कि कांग्रेस का एकजुट होना ही आने वाले दिनों में स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त करेगा।

गांधी का प्रादुर्भाव और जनांदोलन

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत ने राजनीति के नए चरण में प्रवेश किया। गांधी के आने तथा जनांदोलन शुरू हो जाने से भारतीय राजनीति में वैसे लोग आए जो राष्ट्रवाद से ओत-प्रोत थे। तदंतर उदारवादियों ने कांग्रेस छोड़ दिया तथा जिन्ना भी बहुत पीछे नहीं थे जिनका विश्वास था कि इस जनराजनीति के दबाव में खिलाफत आंदोलन तथा असहयोग आंदोलन के जरिए बह चुकी भावात्मक ऊर्जा की भरपाई नहीं की जा सकती। सामान्य तौर पर मुसलमानों ने सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल के अनुभव से अपने महत्व को महसूस किया। उन्हें प्रतीत हुआ कि भारत सरकार उन्हें प्रसन्न करना चाहती है। इससे उन्हें अपनी स्थिति का एहसास हुआ। वर्ष 1919 के मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार में भी सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को जारी रखा गया और इस बार मुस्लिम समुदाय को उन प्रांतों में भी प्रतिनिधित्व मिला जहाँ वे बहुसंख्यक थे। इसके अतिरिक्त, उन्हें उन प्रांतों में भी उनकी संख्या आधारित शक्ति से अधिक महत्व दिया गया जहाँ वे अल्पसंख्यक थे। और कपलैंड के अनुसार ये उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण रियायतें थी, जो वर्ष 1909 में उन्हें संतुष्ट करने हेतु मॉर्ले तथा मिंटो ने दी थीं.... कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच हुआ समझौता ब्रिटिश भारत की सीमाओं में अभी तक की भारतीय राष्ट्रवाद की सर्वोधिक मर्मभेदी अभिव्यक्ति था। औपनिवेशिक सरकार के इस नए उपाय के माध्यम से भारत में सांप्रदायिक विषय ने घर कर लिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत ने राजनीति के नए चरण में प्रवेश किया। गांधी के आने तथा जनांदोलन शुरू हो जाने से भारतीय राजनीति में वैसे लोग आए जो राष्ट्रवाद से ओत-प्रोत थे। तदंतर उदारवादियों ने कांग्रेस छोड़ दिया तथा जिन्ना भी बहुत पीछे नहीं थे जिनका विश्वास था कि इस जनराजनीति के दबाव में खिलाफत आंदोलन तथा असहयोग आंदोलन के जरिए बह चुकी भावात्मक ऊर्जा की भरपाई नहीं की जा सकती। सामान्य तौर पर मुसलमानों ने सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल के अनुभव से अपने महत्व को महसूस किया

आम जनता इससे संतुष्ट नहीं थी, अतः इस कानून की सबने भर्त्सना की। रौलट समिति की रिपोर्ट के प्रकाशन से माहौल और खराब हो गया। रौलट समिति की सिफारिशों को दो विधेयकों में समाविष्ट किया गया जिसके द्वारा न्यायाधीशों को यह अधिकार दिया गया कि वे अधिसूचित क्षेत्रों में जूरी के बिना राजनैतिक मुकद्मों पर न्याय विचार कर सकते हैं तथा प्रांतीय सरकारों को नजरबंद करने का अधिकार दिया गया। तत्पश्चात् जलियाँ वाला बाग की त्रासद घटना घटी। मार्शल लॉ लगाया गया तथा अनेक नेताओं को गिरफतार किया गया। अंतरराष्ट्रीय पटल पर घट रही परवर्ती घटनाओं के कारण कांग्रेस तथा मुसलमान दोनों साथ हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत के मुसलमानों ने तुर्की पर थोपी गई कठोर शर्तों का विरोध किया। महात्मा गांधी ने मुसलमानों से मिलकर खिलाफत और पंजाब में किए गए अत्याचारों के समाधान तथा भारत में स्वराज की स्थापना हेतु अहिंसक असहयोग आंदोलन शुरू किया। यह आंदोलन दो वर्षों तक ठीक ठाक चला। तत्पश्चात् प्रसिद्ध चौरीचौरा कांड के बाद महात्मा गांधी ने आंदोलन वापस ले लिया।

चौरीचौरा घटना के फलस्वरूप असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने के बाद महात्मा गांधी सहित इस जनांदोलन में भाग लेने वाले सभी नेताओं को जेल भेज दिया गया। इसके पश्चात् सी. आर. दास तथा मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराजवादी नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने नवीन संवैधानिक स्थान के साथ संघर्ष को जारी रखा। परंतु संवैधानिक आंदोलन के नाम पर जो स्थान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को प्राप्त हुआ था, वह इन्हें नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि अब संप्रदाय आधारित प्रतिनिधित्व केवल चर्चा का विषय होकर रह गया। असहयोग आंदोलन के बाद जिस सराहनीय हिंदू मुस्लिम एकता का निर्माण हुआ था, वह फिरसे टूटने लगी। राष्ट्रीय एकता की जगह

सांप्रदायिक द्वेष ने लेना शुरू कर दिया। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग, जो पहले ही कांग्रेस के मुस्लिम समकक्ष के रूप में उभर चुकी थी, ने 1924 में फैसला किया था कि किसी भी संवैधानिक वार्ता में, सरकार का रूप एक संघ का होगा, जिसमें प्रांतीय स्वायत्तता होगी और पंजाब, बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में संवैधानिक रूप से संरक्षित मुस्लिम बहुमत होगा। मौलाना मुहम्मद अली तथा मौलाना शौकत अली ने भी अपना दृष्टिकोण कठोर करते हुए गांधी जी का विरोध किया। वर्ष 1920 के दशक में दंगे फैल गए, जिस कारण दोनों समुदायों के नेताओं को इस विवाद को हल करने के उद्देश्य से वार्ता प्रक्रिया का समर्थन करने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि प्रत्येक समुदाय की अपनी जनशक्ति थी और उसमें पलटवार करने की क्षमता थी।

लार्ड बर्केनहेड ने भारतीयों के समक्ष संविधान निर्माण की चुनौती रखी तथा कुछ विशेष कर दिखाने के लिए प्रयास किए गए। इस संदर्भ में 'दिल्ली मुस्लिम प्रस्ताव' एक उज्जवल बिंदु था जिसमें पृथक निर्वाचक मंडल संबंधी समझौते के लिए सीटों के आरक्षण के प्रस्ताव का सुझाव दिया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मद्रास के अपने 42वें अधिवेशन में केंदीय तथा प्रांतीय असेंबलियों में मुसलमानों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इन प्रस्तावों के संबंध में वर्ष 1928 में राष्ट्रीय अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट बनकर तैयार हुई जो मूलत: साइमन आयोग के प्रति प्रतिक्रिया थी। दुर्भाग्य से जिन्ना तथा फजलुल हक जैसे व्यक्तियों के दुराग्रहपूर्ण दृष्टिकोण के कारण नेहरू रिपोर्ट असहमतियों का एक दस्तावेज बन कर रह गया।

खंडित भविष्य का प्रारंभ

अतत: वर्ष 1930 में साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसकी कांग्रेस के सभी नेताओं ने एकमत से निंदा की। ब्रिटिश सरकार द्वारा आयोजित प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व नहीं हो सका क्योंकि कांग्रेस के अधिकांश नेता जेल में थे। कांग्रेस के नेताओं की अनुपस्थिति से भारत में भावी संविधान निर्माण की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, परंतु तेजबहादुर सप्रू तथा एम. आर. जयकर के प्रयासों से विख्यात गांधी इरविन वार्ता संपन्न हुई। कांग्रेस के नेताओं को जेल से रिहा किया गया, सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लिया गया तथा गांधीजी लंदन में होने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हुए। परंतु कुछ भी खास हासिल नहीं हुआ क्योंकि जिन्ना ने सहयोग करने से इनकार कर दिया तथा सैमुअल होर, जो उस समय सेक्रेटरी ऑफ स्टेट थे, ने यह सुनिश्चित किया कि कोई महत्वपूर्ण समझौता नहीं हो। अनेक विषयों पर चर्चा तो हुई, परंतु किसी भी विषय पर कोई समझौता नहीं हो सका। इसके परिणामस्वरूप, अधिकाश कार्य को विभिन्न समितियों में भेज दिया गया। लंदन से लौटने के बाद महात्मा गांधी को गिरफ्तार किया गया तथा कांग्रेस के अनेक पदाधिकारी जेल में डाल दिए गए। रामसे मैकडोनाल्ड ने यह बात स्पष्ट कर दिया कि यदि भारत में विभिन्न समुदाय किसी एक निश्चित समझौते पर नहीं पंहुचते हैं तो ब्रिटिश हुकूमत अपना फैसला देने के लिए बाध्य होगी।

अतत: वर्ष 1930 में साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसकी कांग्रेस के सभी नेताओं ने एकमत से निंदा की। ब्रिटिश सरकार द्वारा आयोजित प्रथम गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व नहीं हो सका क्योंकि कांग्रेस के अधिकांश नेता जेल में थे। कांग्रेस के नेताओं की अनुपस्थिति से भारत में भावी संविधान निर्माण की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, परंतु तेजबहादुर सप्रू तथा एम. आर. जयकर के प्रयासों से विख्यात गांधी इरविन वार्ता संपन्न हुई। कांग्रेस के नेताओं को जेल से रिहा किया गया, सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लिया गया तथा गांधीजी लंदन में होने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हुए

तत्पश्चात् वर्ष 1932 का सांप्रदायिक अधिनिर्णय आया। इस अधिनिर्णय द्वारा मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों तथा हिंदू समुदाय में दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान किया गया। गांधी जी ने इस अवार्ड पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इसका उद्देश्य देश में ऐसा विभाजन कराना है कि वह कभी भी अपने पैरों पर खड़ा न हो सके। सेकेटेरी ऑफ स्टेट सैमुअल होर को लिखे पत्र में गांधी जी ने उन्हें चेतवानी दी की वह दलित वर्गों को दिए गए पृथक सामुदायिक प्रतिनिधित्व का विरोध अपनी जान की बाजी लगा कर करेंगे। गांधी जी ने रामसे मैकडोनाल्ड को भी पत्र लिखा पर उन पर इसका वस्तुत: कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैकडोनाल्ड ने इस विषय को हल्के में लिया और यदि गांधी जी की मृत्यु भी हो जाती तो भी वह उसकी परवाह नहीं करते।[5] जब अंग्रेजी सरकार अपने इस दृष्टिकोण से टस से मस नहीं हुई, और आमरण अनशन के कारण गांधी जी की तबीयत बहुत बिगड़ने लगी, तो भारतीय नेताओं ने पारस्परिक समझौतों के माध्यम से अवार्ड में संशोधन करने का मन बनाया। डॉ. अंबेडकर के साथ वार्ता हुई तथा प्रसिद्ध पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर किए गए। जिसके अंतर्गत दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल के स्थान पर सामान्य निर्वाचक मंडल में से सीटें आरक्षित की गई।

नंवबर, 1932 में दूसरा प्रयास किया गया जिसे शौकत अली ने स्वदेशी गोलमेज सम्मेलन कहा। यह सम्मेलन इलाहाबाद में आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता सी. विजयराघवाचार्यर ने की। उन्होंने अपने आंरभिक भाषण में कहा था कि वे सांप्रदायिक अधिनिर्णय तथा पूना समझौते से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं।[6] देश के कोने-कोने से आए नेताओं की बैठक इलाहाबाद में के.एन. काटजू के आवास पर हुई। डॉ. अंबेडकर ने सम्मेलन को एक पत्र लिखा जिसमें

उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि एकता के अभाव से अधिक बडी कोई दूसरी बाधा नहीं हो सकती। समुदायों तथा जातियों के बीच वार्ताओं के इतिहास में इससे पहले आज तक वार्ता की मेज पर इतनी बातें नहीं रखी गई हैं और न ही इतना अधिक खोना पडा है।[7] समझौते तो किए भी गए, परंतु उनकी पुष्टि समुदायों के क्षेत्रीय निकायों द्वारा की जानी थी तथा पुष्टीकरण प्रक्रिया में अनेक संशोधनों को प्रस्तुत किया गया जिनका समाधान सम्मेलन द्वारा नहीं किया जा सका और अतत: समझौते का प्रारूप ही नष्ट हो गया।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इड़ियन कांउसिल्स एक्ट, 1909 में मुसलमानों तथा अन्य समुदायों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल पुन:स्थापित करने की पुष्टि कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच वर्ष 1916 के लखनऊ पैक्ट में की गई थी तथा इस पैक्ट में जिन्ना की मुख्य भूमिका थी। परंतु नेहरू समिति में मुस्लिम लींग द्वारा प्रस्तावित सुझावों को अस्वीकार कर दिया गया जिसमें सीटों के आरक्षण सहित पृथक् निर्वाचक मंडल को बनाए रखने की बात कही गई थी। इसके बावजूद जिन्ना ने पृथक् निर्वाचक मंडल की माँग की और यह चेतावनी दी कि इसके नहीं दिए जाने पर क्रांति तथा गृहयुद्ध शुरू हो सकता है। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 में अल्पसंख्यकों के लिए आवश्यक सुरक्षोपाय के रूप में मुसलमानों तथा अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जाति को छोड़कर, के लिए पृथक निर्वाचकमंडल के प्रावधान की पुष्टि की गई। अल्पसंख्यकों को और अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 में अन्य बातों के साथ-साथ अल्पसंख्यकों के विधिसम्मत हितों की रक्षा हेतु प्रांतीय सरकारों को विशेष जिम्मेदारी दी गई। अपने विशेष दायित्वों के निर्वहन के रूप में गर्वनरों को अपने व्यक्तित्व विवेक का भी प्रयोग करने के लिए कहा गया। यह महसूस किया गया कि पृथक निर्वाचक मंडल, सीटों के आरक्षण तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के संबंध में गर्वनर की विशेष जिम्मेदारी से इन अधिकारों की युक्तिसंगत रक्षा की जा रही थी।[8]

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के अंतर्गत हुए चुनाव के परिणामस्वरूप गवर्नर से किसी हस्तक्षेप के बिना दैनिक शासन को सुचारु रूप से चलाना सुनिश्चित करने के उद्देश्य से गवर्नर के विशेष दायित्व का उपयोग नहीं किए जाने का वचन दिया गया था। तथापि उत्तर प्रदेश में हुए चुनाव के परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ कि कांग्रेस मुस्लिम लीग के साथ मिलकर सत्ता में भाग लेगी। इसके बावजूद कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर गठबंधन सरकार बनाने से इनकार कर दिया तथा पूरी योजना व्यर्थ हो गई। वी. पी. मेनन ने 7 जुलाई 1945 को इवान जेंकिंस को लिखे अपने पत्र में बताया, वर्ष 1935 तक यह देखा गया है कि मुसलमान आमतौर पर यह समझ रहे थे कि यदि विधायिका में उनको पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले तो उनके हितों की रक्षा होगी। भला हो कांग्रेस की उस नीति का जिसमें प्रांतीय कार्यपालिका से सभी अन्य दलों को निकाल दिया गया, तब अल्पसंख्यकों को यह समझ में आया कि विधायिका के अंधिकांश भाग अल्पसंख्यकों की इच्छाओं की उपेक्षा कर सकता है तथा विधायिका में प्रतिनिधित्व मात्र से हितों की पर्याप्त रक्षा नहीं हो सकती। पाकिस्तान के लिए जिन्ना के हो-हल्ले का यही असली कारण था। सत्ता में भागीदारी से अपवर्जन ही वह वास्तविक आधारशिला थी जिस पर मुस्लिम लीग की वर्तमान स्थिति का निर्माण हुआ था। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बहुसंख्यक मुस्लिम वाले प्रांतों की तुलना में अल्पसंख्यक मुस्लिम वाले प्रांतों में पाकिस्तान की माँग ज्यादा मुखर थी।[9]

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के अंतर्गत हुए चुनाव के परिणामस्वरूप गवर्नर से किसी हस्तक्षेप के बिना दैनिक शासन को सुचारु रूप से चलाना सुनिश्चित करने के उद्देश्य से गवर्नर के विशेष दायित्व का उपयोग नहीं किए जाने का वचन दिया गया था। तथापि उत्तर प्रदेश में हुए चुनाव के परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ कि कांग्रेस मुस्लिम लीग के साथ मिलकर सत्ता में भाग लेगी। इसके बावजूद कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर गठबंधन सरकार बनाने से इनकार कर दिया तथा पूरी योजना व्यर्थ हो गई

आजादी की ओर

जब लॉर्ड वेवेल ने वायसराय का पद संभाला तो उन्होंने गतिरोध दूर करने के कुछ ईमानदार प्रयास किए। ऐसा ही एक प्रयास फरवरी 1944 में गांधी-जिन्ना वार्ता जो 18 दिनों तक चली, पर विफल रही। कांग्रेस ने इस वार्ता का असामयिक कहकर आलोचना की क्योकि इससे जिन्ना की प्रतिष्ठा बढ़ती है। यही हाल देसाई-लियाकत अली पैक्ट का भी हुआ। सितंबर 1944 में वावेल ने एक और प्रयास किया और उसने चर्चिल को एक पत्र लिखा कि वह चाहता है कि क्रिप्स घोषणा में दिए गए सुझाव के अनुरूप एक अंतिम राजनैतिक सरकार बने, और वर्तमान संविधान के दायरे में रहकर ताकि किसी संवैधानिक समझौते तक पहुँचने के लिए साधन की खोज के लिए ईमानदारी के साथ, पर अनिवार्यत: साथ-साथ प्रयास किए जाएँ। इसके प्रभावी होने के लिए, हम जो भी प्रयास करें वह ऐसा हो, जो भारत की कल्पना को साकार कर सके। यदि भारत पर बलपूर्वक शासन नहीं किया जा सकता तो इस पर दिमाग नहीं बल्कि दिल से शासन किया जाना चाहिए। हमारा प्रयास ईमानदार तथा मैत्रीपूर्ण होना चाहिए।[10]

परंतु दुर्भाग्य से सरकार को वावेल के विचारों का समर्थन नहीं मिला और न ही ब्रिटिश सरकार की तरफ से उसे अपने प्रस्तावों का कोई उत्तर ही मिला। सरकार ने इसे जून 1945 तक स्थगित करने का प्रयास उस समय तक किया जब बावेल अपने प्रस्तावों की व्याख्या करने हेतु इंग्लैंड पहुँचे।[11] इंडिया कमेटी के साथ संक्षिप्त चर्चा के पश्चात वावेल को कुछ बिंदुओं पर मंजूरी मिली और वह भारत वापस आ गए। तथा 14 जून को उन्होंने नई कार्यकारी

परिषद् के गठन का प्रस्ताव किया जिसमें कमांडर इन.चीफ के अतिरिक्त गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 की सरंचना के अंतर्गत सभी भारतीय होंगे। परंतु इसमें उन उपायों पर भी विचार किया जाएगा। जिनसे नए संविधान के निर्माण हेतु समझौता हो सके। उन्होंने उन दिनों जेल में बंद कांग्रेस के नेताओं की रिहाई की घोषणा की तथा 25 जून, 1945 को शिमला में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में भी कोई परिणाम नहीं निकला, निरंतर इंग्लैड में लेबर पार्टी की भारी जीत हुई तथा एटली प्रधानमंत्री बने।

युद्ध समाप्त हुआ क्योंकि जापान ने समर्पण कर दिया और भारत में अनेक दलों ने प्रांतीय असेंबलियों के चुनाव की माँग की। दिंसबर 1945 के अंत में केंद्रीय संविधान सभा के चुनावों के परिणाम मिल गए और देश का विभाजन पूरा होता हुआ प्रतीत हुआ। मुस्लिम लींग ने प्रत्येक मुस्लिम सीट जीती। उसी प्रकार कांग्रेस की भी हिंदूबहुल चुनाव क्षेत्रों में जीत हुई। इसी पृष्ठभूमि में कैबिनेट मिशन का आगमन हुआ। कैबिनेट मिशन तथा वायसराय ने शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया जो द्वितीय शिमला सम्मेलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को चर्चा हेतु आमंत्रित किया गया।[12] इसकी पहली बैठक 5 मई 1946 को हुई परन्तु 6 मई को निर्धारित दूसरी बैठक नहीं हो सकी क्योंकि समानता के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच उत्पन्न मतभेद तथा कटुता को दूर नहीं किया जा सका। जैसी कि संभावना थी जिन्ना ने प्रत्यक्ष कार्रवाई का आह्वान किया

यद्यपि सांप्रदायिक धुव्रीकरण को बढ़ावा देने में औपनिवेशिक व्यवस्था की भूमिका का लिखित प्रमाण है, तथापि उस समय के राजनैतिक संस्थान की भूमिका भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। पीछे मुड़कर देखें तो देश के विभाजन तथा उस सांप्रदायिक प्रश्न के लिए इस दल या उस दल को दोषी ठहराया जा सकता है, जो आज भी भारत को परेशान कर रहा है, परंतु संविधान सभा के कार्य के प्रारंभ में भी अल्पसंख्यक मुद्दा उतना ही विकराल था जितना इसके पूर्ववर्ती तीन दशकों के दौरान था

तथा देश का विभाजन हुआ जिसमें हिंसा तथा बर्बरता की अभूतपूर्व घटनाएँ घटी थीं। जब संविधान सभा का चुनाव अंतत: हो गया, तो केवल दो महत्वपूर्ण दल थे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग, और यह लगभग पूर्व निश्चित निष्कर्ष था कि मुस्लिम लीग 9 दिंसबर, 1946 को होने वाली बैठक में शामिल नहीं होगी।

निष्कर्ष

यद्यपि सांप्रदायिक धुव्रीकरण को बढ़ावा देने में औपनिवेशिक व्यवस्था की भूमिका का लिखित प्रमाण है, तथापि उस समय के राजनैतिक संस्थान की भूमिका भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। पीछे मुड़कर देखें तो देश के विभाजन तथा उस सांप्रदायिक प्रश्न के लिए इस दल या उस दल को दोषी ठहराया जा सकता है, जो आज भी भारत को परेशान कर रहा है, परंतु संविधान सभा के कार्य के प्रारंभ में भी अल्पसंख्यक मुद्दा उतना ही विकराल था जितना इसके पूर्ववर्ती तीन दशकों के दौरान था। इसके बावजूद हमने अपनी आस्था भाग्य तथा दैवी चमत्कारों में रखने का निर्णय लिया और यह सुनिश्चित करना चाहा कि हमारी तथाकथित पंथनिरपेक्ष पहचान को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, भले ही उस अत्यंत जटिल और त्रासद प्रश्न, जिसका सामना हम आज भी कर रहे हैं, और यह मर्मांतक अंतहीन घाव एक दिन नासूर बन जाए, के समाधान के लिए दूसरी सर्जरी अपरिहार्य हो जाए। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इक्कीसवीं सदी का भरत भी अल्पसंख्यक मुद्दे पर उसी प्रकार अंधेरे में भटक रहा है, जिस प्रकार वह सौ वर्ष पहले भटक रहा था। परंतु, ऐसा नहीं है कि इसका समाधान नहीं ढूँढा जा सकता, तथा राजनैतिक बातचीत के माध्यम से उस विवाद के जिसकी जड़ें काफी गहरी है, तथा जिसने इस देश की समन्वित परंपरा को धूमिल किया है, समाधान की दिशा में प्रयास जारी रहेंगे। परंतु यह अवश्य याद रहे कि ऐसे दीर्घकालिक प्रश्न के संबंध में इतिहास की अपनी भूमिका होती है। तथा इस इतिहास को समझने तथा यह समझने कि किस प्रकार ऐतिहासिक संघर्ष ने वर्तमान विवाद का रूप लिया है, के आधार पर पूर्ण तथा स्थायी समाधान निकल सकता है।

संदर्भ

1. एम. एम. शंखधर की *सेक्युलरिज्म इन इंडिया : डिलेमाज ऐंड चौलेंजेज* में स्वप्न दासगुप्ता, सेकुलरिज्म ऐंड हिंदू नेशनलिज्म, (दीप ऐंड दीप पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1995)
2. ए. आर. देसाई, *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 2000)
3. द *टाइम्स* को लिखे गए लॉर्ड अलिवर के पत्र, 10 जुलाई, 1926
4. एच. वी. हडसन, द *ग्रेट डिवाइड, ब्रिटेन-इंडिया-पाकिस्तान*, पृ. 67 (हुचिंसन, लंदन, सं. 1969)
5. बी.डी. शुक्ल, *अ हिस्ट्री ऑफ* द *इंडियन लिबरल पार्टी*, पृ. 327 (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1960)
6. "फॉर यूनाइटेड इंडिया", *बॉम्बे क्रॉनिकल*, 1 नवंबर 1932
7. डॉ. अंबेडकर, *बॉम्बे क्रॉनिकल* में उद्धृत, 1 नवंबर, 1932
8. एच.एम. सीरवई, *कांस्टीट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया*, खंड 1 (यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग कंपनी लि. 1991)
9. वही, पृ. 17
10. *ट्रांसफर ऑफ पावर*, खंड 7, पृ. 94
11. वही, पृ. 99
12. वही, पृ. 467

अल्पसंख्यक तत्व की संवैधानिक प्रासंगिकता

प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी

हमारे संविधान में अल्पसंख्यकों को पर्याप्त अधिकार दिए गए हैं। संवैधानिक प्रावधानों और समय-समय पर हुए न्यायिक निर्णयों का एक लेखाजोखा

'अल्पसंख्यक' शब्द से तात्पर्य ऐसे समूह से है, जिसकी जनसंख्या संपूर्ण जनसंख्या के आधी से भी कम हो और जो विशेष रूप से जाति, धर्म, परंपराओं तथा संस्कृति, भाषा आदि की दृष्टि से भिन्न रहा हो। संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकार आयोग के सदस्य (अधिकारी) फ्रैंसेस्टो कैपटॉर्टि ने 1977 में 'अल्पसंख्यक' की परिभाषा करते हुए कहा है कि "अल्पसंख्यक एक ऐसे समूह को कहा जाना चाहिए, जिसकी आबादी देश की बाकी जनसंख्या की तुलना में कम हो, जिसकी क्षमता अपना प्रभुत्व रखने की न हो, जिसके सदस्य देश के नागरिक होते हुए ऐसी जातीय, धार्मिक और भाषाई विशेषताएँ रखते हों जो बाकी आबादी से अलग हो और जो परोक्ष रूप से ही सही, एकजुटता की भावना दिखाते हों, जिसका लक्ष्य अपनी संस्कृति, परंपराओं, धर्म और भाषा का संरक्षण करना हों।"[1]

देश के पहले शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने 1940 में कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण के दौरान कहा था कि "राजनैतिक बोलचाल की भाषा में अल्पसंख्यक का तात्पर्य एक ऐसे कमजोर समुदाय से है जो अपनी संख्या और स्थिति के कारण एक बड़े और बहुसंख्यक समुदाय की तुलना में खुद को अपनी सुरक्षा करने में अक्षम पाता है।"[2] ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में 'अल्पसंख्यक' को एक छोटी संख्या या भाग के रूप में परिभाषित किया गया है, एक संख्या या भाग जो संपूर्ण के अपेक्षा आधे से भी कम हो, लोगों का अपेक्षाकृत छोटा समूह जो जाति, धर्म, भाषा या राजनैतिक संदर्भ की दृष्टि से दूसरों से भिन्न हो।

राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यकों की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन सकी है। न्यायाधीशों, विधिवेत्ताओं और राजनीतिज्ञों के काफी प्रयासों के बाद भी ऐसा संभव नहीं हो सका है। यहाँ तक कि 1948 के मानवाधिकार संबंधी सार्वभौमिक घोषणापत्र में भी अल्पसंख्यकों की कोई व्याख्या एवं परिभाषा नहीं किया गया है। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार तंत्र (नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार संबंधी अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा पत्र-1966 (ICCPR) की धारा-27 भी अल्पसंख्यकों की परिभाषा नहीं करती। धारा-27 में कहा गया है कि "ऐसे राज्यों में जहाँ जातीय, धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यक मौजूद है, उन्हें अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। ऐसे लोग अपने समुदाय के अन्य लोगों के साथ अपनी संस्कृति का आनंद उठा सकते है। उनको अपने धार्मिक मूल्यों को मानने या अपनी भाषा का उपयोग करने से रोका नहीं जा सकता।"[3]

भारत के संविधान में अल्पसंख्यक शब्द या उसके बहुवचन का प्रयोग अनुच्छेद 29 से 30 तथा अनुच्छेद 350 'क' एवं 350 'ख' में किया गया है, लेकिन कहीं भी इसे परिभाषित नहीं किया गया है। अनुच्छेद 29 में इसके बारे में कहा गया है कि "नागरिकों का कोई वर्ग.... जिसकी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति हो"। इस प्रकार इससे यह स्पष्ट होता है कि यह संपूर्ण समुदाय हो सकता है जिसे सामान्यत: बहुसंख्यक समुदाय में अल्पसंख्यक समुदाय या समूह के रूप देखा जाए। अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यकों की विशिष्ट रूप से दो श्रेणियाँ बताई गई हैं - धार्मिक एवं भाषायी। शेष दो अनुच्छेदों 350 'क' तथा 350 'ख' केवल भाषायी अल्पसंख्यकों से संबंधित है।[4]

भारत में राष्ट्रीय स्तर धार्मिक अल्पसंख्यकों के संबंध में वे सभी समुदाय जो हिंदू धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म को मानते हैं, उन्हें

अल्पसंख्यक माना जाता है, क्योंकि देश की 80 प्रतिशत से ज्यादा आबादी हिंदू धर्म को मानती है। राष्ट्रीय स्तर पर मुस्लिम समुदाय सबसे बड़ा 'अल्पसंख्यक समुदाय' है। अन्य अल्पसंख्यक समुदाय संख्या की दृष्टि से काफी कम है। भारत में अल्पसंख्यक वर्गों की जनसंख्या को वर्ष 2011 जनगणना के आधार पर तालिका संख्या-1 द्वारा दिखाया गया है -

तालिका-1

भारत में धार्मिक आधार पर जनसंख्या और उनका प्रतिशत (जगगणना-2011)

क्र.सं.	धर्म	जनसंख्या	प्रतिशत
1.	हिंदू	96.63 करोड़	79.8
2.	मुस्लिम	17.22 करोड़	14.2
3.	ईसाई	2.78 करोड़	2.3
4.	सिख	2.08 करोड़	1.7
5.	बौद्ध	84 लाख	0.7
6.	जैन	45 लाख	0.4
7.	अन्य धर्म	79 लाख	0.7
8.	धर्म नहीं बताया	29 लाख	0.2
9.	कुल जनसंख्या	121.09 करोड़	

स्रोत: भारत की जनगणना-2011

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में मुस्लिम समुदाय (14.2 प्रतिशत) के बाद दूसरे स्थान पर ईसाई समुदाय (2.3 प्रतिशत) और तीसरे स्थान पर सिख समुदाय (1.7 प्रतिशत) का स्थान आता है। जबकि अन्य सभी धार्मिक समूह इनसे भी छोटे हैं।

भाषायी अल्पसंख्यकों के संबंध राष्ट्रीय स्तर पर कोई बहुसंख्यक समुदाय नहीं है तथा अल्पसंख्यक वर्ग की स्थिति मूलत: राज्य/संघ राज्य क्षेत्र स्तर पर निर्धारित की जानी चाहिए। राज्य/संघ राज्य क्षेत्र स्तर पर जम्मू तथा कश्मीर तथा लक्षद्वीप संघ राज्य क्षेत्र में मुस्लिम समुदाय बहुसंख्यक समुदाय है। पंजाब राज्य में सिख समुदाय बहुसंख्यक हैं। मिजोरम तथा नगालैंड में ईसाई समुदाय बहुसंख्यक समुदाय है। अल्पसंख्यक वर्गों में कोई अन्य धार्मिक समुदाय किसी अन्य राज्य/संघ राज्य क्षेत्र में बहुसंख्यक नहीं है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 के अनुसार "अधिनियम के प्रयोजनार्थ अल्पसंख्यक से अभिप्रेत केंद्रीय सरकार द्वारा इस प्रयोजन से अधिसूचित समुदाय से हैं।" धारा 2(7) इस उपबंध के तहत कार्य करते हुए केंद्रीय सरकार ने 23. 10.1993 को यह अधिसूचित किया कि इस अधिनियम को प्रयोजनार्थ मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा पारसी समुदायों को 'अल्पसंख्यक वर्ग' के रूप में माना जाएगा।[5]

टी.एम.ए. पाई फाउंडेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक के मामले में उच्चतम न्यायालय के 11 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने अभिनिर्धारित किया कि पंथ और भाषा के आधार पर कौन अल्पसंख्यक है इसका निर्धारण अलग-अलग राज्यों में उनकी जनसंख्या में विभिन्न समुदायों के अनुपात के आधार पर किया जाएगा।[6] देश स्तर पर अल्पसंख्यक का दर्जा दिलाने के कारण राज्यों द्वारा उन्हें यह दर्जा देने की बाध्यता को न्यायालय ने समाप्त कर दिया है। फलत: अब कश्मीर और मिजोरम में हिंदुओं को अल्पसंख्यक माना जाएगा। बाल पाटिल बनाम भारत संघ (2005) के वाद में उच्चतम न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की पीठ ने टी.एम.ए. पाई के निर्णय का अनुसरण करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि कोई समुदाय अल्पसंख्यक है या नहीं इसका निर्धारण राज्य के आधार पर किया जाएगा पूरे देश के आधार पर नहीं। इस मामले में अपीलार्थी एक जैन समुदाय संगठन ने मुंबई उच्च न्यायालय में याचिका फाइल करके यह निर्देश देने का निवेदन किया कि उसे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की धारा 2(ग) के अधीन 'अल्पसंख्यक' घोषित किया जाए। निर्णय में जैन समुदाय को अल्पसंख्यक नहीं माना गया।[7] कई राज्यों में (जैसा कि हिमाचल प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा उत्तराखंड) जैनियों को 'अल्पसंख्यक' के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। बाल विद्या वाद 2006 के परवर्ती निर्णय में उच्चतम न्यायालय की अन्य न्यायपीठ ने उत्तर प्रदेश विधि की मर्यादा बनाए रखते हुए जैनियों को 'अल्पसंख्यक' के रूप में मान्यता प्रदान की।

दयानंद ऐंग्लो वैदिक कॉलेज (डी.ए.वी.) न्यास तथा प्रबंध समिति बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि विभिन्न राज्यों की स्थापना किए जाने का आधार भाषा है, और भाषायी अल्पसंख्यक का निर्धारण उस राज्य के संबंध में किया जाएगा, जहाँ शैक्षिक संस्था स्थापित करने की ईप्सा की जाती है। धार्मिक अल्पसंख्यकों के बारे में स्थिति भी इसी प्रकार हैं क्योंकि अनुच्छेद 30 में दोनों एक समान हैं। राज्य में न केवल उन व्यक्तियों द्वारा जो अल्पसंख्यक हैं संस्था स्थापित की जानी चाहिए। अनुच्छेद 30 का निर्वचन इस ढंग से नहीं किया जा सकता कि जिन व्यक्तियों ने राज्य में अल्पसंख्यक व्यक्तियों के लिए संस्था स्थापित किया है वे व्यक्ति अन्य जगह पर अल्पसंख्यक नहीं है, ऐसी संस्था को चला सकते है।[8]

अल्पसंख्यक की संवैधानिक प्रासंगिकता

भारत एक बहुधर्मी और बहुभाषी देश है। भारत में हिंदू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि धर्मों के लोग निवास करते हैं। भारत में अल्पसंख्यकों को सामान्यत: दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है - 1. धार्मिक अल्पसंख्यक, 2. भाषायी अल्पसंख्यक।

भारतीय संविधान में भी धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों के संरक्षण हेतु संविधान के भाग तीन एवं चार तथा आठवीं अनुसूची में भाषा के संरक्षण संबंधी प्रावधान किया गया है। भारत में कैबिनेट मिशन योजना के तहत पंडित नेहरू ने 13 दिसंबर 1946 में संविधान सभा में ऐतिहासिक उद्देश्य प्रस्ताव पेश करते हुए कहा कि भारत के सभी लोगों के लिए न्याय, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता एवं सुरक्षा, अवसर की समता, विधि के समक्ष समता, विचार एवं अभिव्यक्ति, विश्वास, भ्रमण, संगठन बनाने आदि की स्वतंत्रता तथा लोक नैतिकता की स्थापना सुनिश्चित की जायेगी तथा अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों तथा जन जातीय क्षेत्रों के लोगों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की जाएगी।[9]

अल्पसंख्यकों को अधिकार एवं संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से संविधान सभा

ने सरदार पटेल की अध्यक्षता में मौलिक अधिकारों, अल्पसंख्यकों एवं जनजातीय तथा बहिष्कृत क्षेत्रों के लिए परामर्शदाता समिति का गठन किया गया। इस समिति के अन्तर्गत आचार्य जे.बी. कृपलानी की अध्यक्षता में मौलिक अधिकार उप-समिति तथा एच. सी. मुखर्जी की अध्यक्षता में अल्पसंख्यक उप-समिति की स्थापना की गई। संविधान सभा में हुई चर्चाएँ जनमत से प्रभावी होती थीं। संविधान सभा में बहस होती थी तो विभिन्न पक्षों की दलीलें अखबारों में भी छपती थी और तमाम प्रस्तावों पर सार्वजनिक रूप से बहस चलती थी। सामूहिक सहभागिता बनाने के लिए जनता के सुझाव भी आमंत्रित किए जाते थे। कई भाषाई अल्पसंख्यक अपनी मातृभाषा की रक्षा की माँग करते थे। धार्मिक अल्पसंख्यक अपने विशेष हित सुरक्षित करवाना चाहते थे। सभा में सांस्कृतिक अधिकारों एवं सामाजिक न्याय के कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर सार्वजनिक चर्चाओं पर बहस हुई। नागरिकों के अधिकार किस तरह निर्धारित किए जाएँ? क्या उत्पीड़ित समूहों को कोई विशेष अधिकार मिलने चाहिए? अल्पसंख्यकों के क्या अधिकार हों? वास्तव में अल्पसंख्यक किसे कहा जाए? जैसे प्रश्नों पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ।

27 अगस्त 1947 को मद्रास के बी. पोकर बहादुर ने पृथक निर्वाचिका बनाए रखने के पक्ष में एक प्रभावशाली भाषण दिया। बहादुर ने कहा कि अल्पसंख्यक सब जगह होते हैं, उन्हें हम चाहकर भी नहीं हटा सकते। हमें जरूरत एक ऐसे राजनैतिक ढाँचे की है जिसके भीतर अल्पसंख्यक भी औरों के साथ सद्भाव के साथ जी सकें और समुदाय के बीच मतभेद कम से कम हों। इसके लिए जरूरी है कि राजनैतिक व्यवस्था में अल्पसंख्यकों का पूरा प्रतिनिधित्व हो, उनकी आवाज सुनी जाए और उनके विचारों पर ध्यान दिया जाए। देश के शासन में मुसलमानों की सार्थक हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए पृथक निर्वाचिका के अलावा और कोई रास्ता नहीं हो सकता। पृथक् निर्वाचिका की हिमायत में दिए गए इस बयान से ज्यादातर राष्ट्रवादी भड़क गए। राष्ट्रवादियों को लग रहा था कि पृथक् निर्वाचिका की व्यवस्था लोगों को बाँटने

के लिए अंग्रेजों की चाल थी। आर.वी. धुलेकर ने बहादुर को संबोधित करते हुए कहा था, कि "अंग्रेजों ने संरक्षण के नाम पर अपना खेल खेला। इसकी आड़ में उन्होंने तुम्हें (अल्पसंख्यकों) फुसला लिया है। अब इस आदत को छोड़ दो.....। अब कोई तुम्हें बहकाने वाला नहीं है।"[10]

विभाजन के कारण तो राष्ट्रवादी नेता पृथक निर्वाचिका के प्रस्ताव पर और भड़कने लगे थे। उन्हें निरंतर गृहयुद्ध, दंगों और हिंसा की आशंका दिखाई देती थी। सरदार पटेल ने कहा था कि पृथक निर्वाचिका एक "विष है जो हमारे देश की पूरी राजनीति में समा चुका है।" उनकी राय में यह एक ऐसी माँग थी जिसने एक समुदाय को दूसरे समुदाय से भिड़ा दिया, राष्ट्र के टुकड़े कर दिए, रक्तपात को जन्म दिया और देश के विभाजन का कारण बनी। पटेल ने कहा, "क्या तुम इस देश में शांति चाहते हो? अगर चाहते हो तो इसे (पृथक निर्वाचिका को) फौरन छोड़ दो।"[11]

पृथक निर्वाचिकाओं की माँग का जवाब देते हुए पं. गोविंद वल्लभ पंत ने ऐलान किया कि यह प्रस्ताव न केवल राष्ट्र, बल्कि अल्पसंख्यकों के लिए भी खतरनाक है। उनका कहना था कि यह एक आत्मघाती माँग है जो अल्पसंख्यकों को स्थायी रूप से अलग-थलग कर देगी, उन्हें कमजोर बना देगी और शासन में उन्हें प्रभावी हिस्सेदारी नहीं मिल पाएँगी।[12]

संविधान सभा के सारे मुसलमान सदस्य भी पृथक निर्वाचिका की माँग के समर्थन में नहीं थे। संविधान सभा के एक मात्र मुस्लिम महिला सदस्य बेगम ऐजाज रसूल को लगता था कि पृथक निर्वाचिका आत्मघाती साबित होगी क्योंकि इससे अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों से कट जाएँगें। 1949 तक संविधान सभा के ज्यादातर सदस्य इस बात पर सहमत हो गए थे कि पृथक निर्वाचिका का प्रस्ताव अल्पसंख्यकों के हितों के खिलाफ जाता है। इसकी बजाय मुसलमानों को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए ताकि राजनैतिक व्यवस्था में उनको एक निर्णायक आवाज मिल सके।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के संरक्षण संबंधी उपबंध

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षित रखने वाले अनेक प्रावधान हैं। संविधान के अनुच्छेद 15 तथा 16 राज्य को सामान्य रूप से नागरिकों के संबंध में राज्य द्वारा की जाने वाली प्रत्येक कार्यवाही के संबंध में (अनु. 15) या राज्य के अंतर्गत किसी भी कार्यालय में नियोजन या नियुक्ति से संबंधित मामलों में (अनु. 16) केवल धर्म, मूलवंश, जाति लिंग, जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी भी आधार पर कोई विभेद करने से प्रतिषिद्ध करता है। ध्यात्वय है कि भारतीय संविधान में समानता का आशय सापेक्ष समानता से है। अत: संविधान

कमजोर, वंचित तथा पिछड़े वर्गों के पक्ष में सकारात्मक विभेद की अनुमति देता है। यद्यपि अनुच्छेद 15 में अल्पसंख्यकों का उल्लेख विशिष्ट संदर्भ में नहीं किया गया है किंतु वे अल्पसंख्यक वर्ग जो सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े है, स्पष्ट तौर पर अनुच्छेद 15 में "सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्गों" तथा अनुच्छेद 16 में "पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग" के दायरे के अंतर्गत आते हैं। वस्तुत: केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों ने पिछड़े वर्गों की सूची में धार्मिक अल्पसंख्यकों के वर्गों को शामिल किया है तथा उनके आरक्षण की व्यवस्था की है।[13]

इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संपूर्ण समुदाय को उसके सामाजिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के आधार पर 'वर्ग' के रूप में माना जा सकता है। 'पिछड़े वर्ग' शब्द धर्म-तटस्थ है तथा किसी जाति से संबद्ध नहीं है और इसमें किसी भी जाति या धर्म को शामिल किया जा सकता है जो एक वर्ग के रूप में सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन से ग्रस्त हो। न्यायालय ने टिप्पणी दी कि कर्नाटक सरकार ने उनके द्वारा किए गए विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर उस राज्य में रह रहे समग्र मुस्लिम समुदाय को पिछड़े वर्ग के रूप में अभिनिर्धारित किया था और उन्हें आरक्षण की सुविधा प्रदान की।[14]

अल्पसंख्यकों सहित अपने सभी नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के संबंध में भारतीय संविधान के भाग-3 में अनुच्छेद 25 से 28 तक धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार का उपबंध भी संरक्षण प्रदान करता है। अनु. 25(1) के अंतर्गत सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबंधों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अंत:करण की स्वतंत्रता तथा धर्म के अबाध रूप में मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने का अधिकार प्रदान करता है।[15]

अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्ति को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं -

1. अंत:करण की स्वततंत्रता
2. धर्म को 'अबाध मानने', 'आचरण' और प्रचार करने की स्वतंत्रता।

अंत:करण की स्वतंत्रता का तात्पर्य आत्यंतिक आंतरिक स्वतंत्रता से है, जिसके

इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संपूर्ण समुदाय को उसके सामाजिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के आधार पर 'वर्ग' के रूप में माना जा सकता है। 'पिछड़े वर्ग' शब्द धर्म-तटस्थ है तथा किसी जाति से संबद्ध नहीं है और इसमें किसी भी जाति या धर्म को शामिल किया जा सकता है जो एक वर्ग के रूप में सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन से ग्रस्त हो

माध्यम से व्यक्ति ईश्वर के साथ अपनी इच्छानुसार संबंधों को स्थापित करता है।

धर्म को 'अबाध मानने' से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपने धर्म के प्रति श्रद्धा एवं विश्वासों का स्वतंत्रतापूर्वक और खुलेआम प्रदर्शित करना तथा धार्मिक विश्वासों को किसी भी रीति से व्यावहारिक रूप देने से है।

धर्म के 'आचरण' करने से तात्पर्य धर्म द्वारा विहित कर्तव्यों, कर्मकांडों और धार्मिक कृत्यों को प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता से है। 'धर्म के प्रचार' का अर्थ है विचारों को दूसरों तक संप्रेषित करना और इसके लिए उनका प्रकाशन करना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुच्छेद 25 अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी धार्मिक मान्यता, मूल्य एवं विश्वासों को बनाए रखने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है, बशर्ते यह सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के प्रतिकूल न हों। उच्चतम न्यायालय ने अपने विभिन्न निर्णयों में इस बात की पृष्टि की है। बिजोय इम्मैनुअल बनाम केरल राज्य के अपने ऐतिहासिक एवं दूरगामी प्रभाव वाले विनिश्चय में यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी व्यक्ति को, जिसकी धार्मिक विश्वास इसकी अनुमति नहीं देता, राष्ट्रगान गाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। राष्ट्रगान के समय आदरपूर्वक खड़े रहना ही काफी हैं।[16] इस्माइल फारुकी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि राज्य को अपनी संप्रभुता शक्ति के प्रयोग में पूजा के स्थान जैसे मस्जिद, मंदिर और गिरिजाघर के अधिग्रहण का अधिकार है। पूजा करने के अधिकार के अंतर्गत किसी या हर स्थान पर पूजा करने का अधिकार शामिल नहीं है।[17]

चर्च ऑफ गाड (फुल गस्पेल) इन इंडिया बनाम के.के.आर. मैजेस्टिक कालोनी वेलफेयर संघ के वाद में चर्च की ओर से यह अभिकथन किया गया कि पिटीशन केवल अल्पसंख्यक समुदाय की संस्था का धार्मिक क्रियाकलापों को रोकने के लिए फाइल किया गया है और न्यायालय धार्मिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनु. 25 एवं 26 के अंतर्गत, धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग करते समय धर्म के नाम पर ध्वनि प्रदूषण की अनुमति नहीं है।[18] इसी प्रकार **आचार्य जगदीश्वरानंद** के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि आनंदमार्गियों द्वारा सार्वजनिक स्थानों में खतरनाक हथियारों, नर कलापों एवं जलती हुई मशालों को लेकर तांडव नृत्य करना उनके धर्म का आवश्यक तत्व नहीं है और लोक व्यवस्था के हित में उस पर रोक लगाया जा सकता है।[19]

शायरा बानो बनाम यूनियन ऑफ इंडिया के मामले में मुस्लिम अल्पसंख्यक महिलाओं को तीन तलाक से मुक्ति दिलाकर उनके अधिकारों की रक्षा की गई।

भारतीय संविधान के अनु. 26 में सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक समुदाय या उसके किसी वर्ग को निम्नांकित अधिकार प्रदान किए गए हैं[20]-

i. धार्मिक एवं पूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और घोषणा करना
ii. अपने धार्मिक कार्यों संबंधी विषयों का प्रबंध करना
iii. जंगम और स्थावर संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार
iv. ऐसी संपत्ति का विधिपूर्वक प्रशासन का अधिकार

अनुच्छेद 27 में किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय की बाध्यता का निषेध किया गया है।

अनु. 28(1) यह उपबंधित करता है कि राज्यनिधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा-संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। यह खंड उन शिक्षा-संस्थाओं में लागू नहीं होता है, जिनका प्रशासन राज्य करता हो, किंतु जो किसी ऐसे धर्मस्व या न्यास के अधीन स्थापित हुई है, जिनके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

अनु. 28(2) के अनुसार राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्थाओं में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जाएगा। जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि आवश्यक है तो उसके संरक्षक ने, इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है।[21]

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनु. 29-30)

भारतीय संविधान में अनु. 29 तथा 30 को एक साथ सामान्य शीर्षक 'संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार' के अंतर्गत समूहित किया गया है। जो दोनों अनुच्छेद अल्पसंख्यकों से संबंधित चार विशेषाधिकार प्रदान करने हैं। इनके अंतर्गत निम्नांकित अधिकार शामिल हैं -

i. नागरिकों के किसी भी वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति बनाए रखने का अधिकार

ii. सभी धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

iii. शिक्षण संस्थाओं को राज्य द्वारा सहायता देने के मामले में राज्य द्वारा विभेद के विरूद्ध (इस आधार पर विभेद कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है) शिक्षा संस्थाओं का अधिकार।

iv. राज्य द्वारा पोषित या राज्य द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश से वंचित किए जाने के विरूद्ध नागरिक का अधिकार।

संविधान के अनुच्छेद 350 'क' में भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के संरक्षण का विशिष्ट उपाय दिया गया है। इसमें उपबंधित है कि, "प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा और राष्ट्रपति किसी राज्य को ऐसे निर्देश दे सकेगा जो वह ऐसी सुविधाओं का उपबंध सुनिश्चित कराने के लिए आवश्यक या उचित समझता है। इस प्रकार अनुच्छेद 350 'क' अनुच्छेद 29(1) तथा अनुच्छेद 30(1) के अधीन गारंटीकृत संस्कृति और शिक्षा अधिकारों का विस्तार है। अनुच्छेद 29(1) के अंतर्गत भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी भाषा बनाए रखने का मौलिक अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 350 'क' में प्रत्येक राज्य को यह निदेश दिया गया है कि यह भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बच्चों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर उनकी अपनी भाषा में शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था करेगा। अनुच्छेद 45 के साथ पठित अनुच्छेद 350 'क' में भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों की भाषा को बनाए रखने के लिए राज्य को महत्वपूर्ण नीतिगत निर्देश का उपबंध है। **महासचिव, भाषायी अल्पसंख्यक वर्ग संरक्षण समिति** बनाम कर्नाटक राज्य मामले में सरकारी आदेश के अंतर्गत भाषायी अल्पसंख्यक बच्चों के लिए कन्नड़ भाषा को प्राथमिक शिक्षा के पहले वर्ष से अध्ययनार्थ अनिवार्य विषय बनाया गया तथा भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों द्वारा स्थापित प्राथमिक विद्यालयों को बाध्य किया गया है कि वे इसे प्राथमिक शिक्षा के पहले वर्ष से अनिवार्य रूप से लागू करें, लेकिन यह आदेश संविधान के अनुच्छेद 29(1) तथा अनुच्छेद 30(1) के अतिक्रमण के रूप में पाया गया।[22]

अनुच्छेद 350 'ख' में राष्ट्रपति द्वारा भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति का उपबंध है। इसमें यह भी उपबंध है कि, "विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह इस संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे और उन विषयों के संबंध में ऐसे अंतरालों पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और संबंधित राज्यों की सरकारों को भिजवाएगा।" अनुच्छेद 350 'ख' का उपबंध संविधान का अध्याय-3 विशेषत: अनुच्छेद 29 तथा 30 के अंतर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों को प्रदत्त अधिकारों के साथ पढ़ा जाएगा।

अल्पसंख्यक वर्गों की प्रगति तथा विकास का मूल्यांकन करने और संविधान तथा विधियों आदि के अंतर्गत उनके लिए उपबन्धित सुरक्षोपायों की कार्य प्रणाली को मानीटर करने की दृष्टि से केंद्रीय सरकार ने 1978 में असांविधिक अल्पसंख्यक आयोग गठित किया था। वर्ष 1992 में अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग संबंधी अधिनियम अधिनियमित किया गया ताकि संविधान आयोग का गठन किया जा सके। 1993 में इसी अधिनियम के तहत अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की गई। आयोग के कार्यों के अंतर्गत निम्नलिखित शामिल हैं[23] -

1. संघ और राज्यों के अधीन अल्पसंख्यकों के विकास की प्रगति की मूल्यांकन करना
2. संविधान में और संसद तथा विधान

अनुच्छेद 350 'ख' में राष्ट्रपति द्वारा भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति का उपबंध है। इसमें यह भी उपबंध है कि, विशेष अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह इस संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे और उन विषयों के संबंध में ऐसे अंतरालों पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करे, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे और राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा और संबंधित राज्यों की सरकारों को भिजवाएगा

–मंडलों द्वारा अधिनियमित विधियों में उपबंधित रक्षोपायों के कार्यकरण को मॉनिटर करना

3. केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों की संरक्षा के लिए रक्षोपायों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए सिफारिशें करना
4. अल्पसंख्यकों को उनके अधिकारों और रक्षोपायों से वंचित करने के बारे में विनिर्दिष्ट शिकायतों को देखना और ऐसे मामलों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत करना
5. अल्पसंख्यकों के विरूद्ध किसी विभेद के कारण उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन कराना और उनको दूर करने के लिए अध्युपायों की सिफारिश करना
6. अल्पसंख्यकों के सामाजिक–आर्थिक और शैक्षिक विकास में संबंधित विषयों पर अध्ययन, अनुसंधान और विश्लेषण करना
7. केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा किसी अल्पसंख्यक के संबंध में किए जाने वाले समुचित अध्युपायों का सुझाव देना, और
8. अल्पसंख्यकों से संबंधित किसी विषय पर और विशिष्टतता उनके सामने वाले वाली कठिनाईयों पर केंद्रीय सरकार को कालिक या विशेष रिपोर्ट देना

संविधान संशोधन विधेयक अर्थात् संविधान (एक सौ तीन संशोधन) विधेयक, 2019 प्रस्तुत किया गया जिससे कि संवैधानिक स्तर पर राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग गठित करने के लिए नया अनुच्छेद अर्थात् अनुच्छेद 340 'क' को शामिल किया जा सके। साथ ही राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 को निरसित करने संबंधी विधेयक भी प्रस्तुत किया गया।[24]

आयोग गठित करने के लिए नेशनल कमिशन फॉर माइनॉरिटी एजुकेशनल इंस्टीट्यूशंस अधिनियम, 2004 अधिनियम किया गया जिसे निम्नलिखित दायित्व सौंपे गए – अल्पसंख्यक वर्गों की शिक्षा से संबंधित ऐसे किसी भी मामले के संबंध में जो इसे निर्दिष्ट किया जाए, केंद्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार को सूचित करना, अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने और संचालन करने के अधिकारों से उन्हें वंचित करने या उनका उल्लंघन करने से संबंधित विशिष्ट शिकायतों पर विचार करना, अनुसूचित विश्वविद्यालय को सम्बद्धता से जुड़े किसी विवाद पर निर्णय देना और कार्यान्वयन के लिए केंद्रीय सरकार को अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करना। वर्ष 2006 में इस अधिनियम में व्यापक संशोधन किए गए (2006 का अधिनियम 18), अन्य बातों के साथ–साथ आयोग को किसी अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था (या उसकी ओर से किसी व्यक्ति/व्यक्तियों) द्वारा अपनी पसंद के शिक्षण संस्थान स्थापित करने और उसका संचालन करने के लिए अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों से उन्हें वंचित करने या उनका उल्लंघन करने संबंधी शिकायतों तथा विश्वविद्यालय की संबद्धता से जुड़े किसी विवाद पर अपनी ओर से या अल्पसंख्यक वर्ग की ओर से प्रस्तुत की गई याचिका के संबंध में जांच करने और उसके निष्कर्षों की रिपोर्ट कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त सरकार को अधिकार दिया गया। अधिनियम में यह अभी उपबंधित है कि यदि अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थान और विश्वविद्यालय के बीच संबद्धता के संबंध में कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उस पर आयोग का निर्णय अंतिम होगा।[25]

उपर्युक्त के आलोक में यह कहा जाना समीचीन प्रतीत होता है कि भारतीय संविधान ने अल्पसंख्यकों के अधिकार को अक्षुण्ण बनाए रखने का यत्न किया है। चाहे वह मौलिक अधिकारों से जुड़ा प्रश्न हो अथवा भाषाई आधार पर या धार्मिक पक्षों से संबंधित मामले हों। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अल्पसंख्यकों के अधिकारों के रक्षार्थ अपने निर्णयों में नजीर पेश की है। अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं को विशेष अधिकार प्रदान कर अल्पसंख्यकों के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा की गई है।

संदर्भ

1. Minority Rights : International Standards and Guidance for Implementation, United Nations, New York and Geneva, 2010, p.2
2. विकास बहुगुणा क्या, भारत में मुसलमान वास्तव में अल्पसंख्यक हैं? Satyagrah.com 8 जून 2021
3. डॉ. बी.ए. फड़िया एवं डॉ. कुलदीप फड़िया, भारतीय शासन एवं राजनीति साहित्य भवन, आगरा, 2019, पृ. 749
4. राष्ट्रीय धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय भारत सरकार, पृ. 3
5. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 cms.ncm.nic.in
6. ए.आई.आर., 2003, एस.सी. 355
7. ए.आई.आर., 2005, एस.सी. 3172
8. ए.आई.आर., 2013, एस.सी. 1420
9. संविधान सभा बहस, खंड–1
10. संविधान सभा बहस, खंड–2
11. संविधान सभा बहस, खंड–5
12. संविधान सभा बहस, खंड–2
13. डॉ. जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी, प्रयागराज (इलाहाबाद), 2022, पृ. 147
14. ए.आई.आर., 1993, एस.सी. 477
15. डी.डी. बसु, भारत का संविधान एक परिचय, बाधवा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 68
16. (1986) 3 एस.सी.सी. 615
17. (1994) 6 एस.सी.सी. 1
18. ए.आई.आर., 2000, एस.सी. 2773
19. ए.आई.आर., 1983, एस.सी. 51: (1983) 4 एस.सी.सी. 522
20. डॉ. जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी प्रयागराज (इलाहाबाद), 2022, पृ. 412
21. डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय खंड–26, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 109, 110
22. राष्ट्रीय धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यक आयोग की रिपोर्ट, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 10
23. वही, पृ. 8
24. डॉ. जे.एन. पाण्डेय, भारत का संविधान सेंट्रल लॉ एजेंसी, प्रयागराज (इलाहाबाद) 2022, पृ. 585
25. नेशनल कमिशन फॉर माइनॉरिटी एजुकेशनल इंस्टीच्यूशंस एक्ट, 2004, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय भारत सरकार

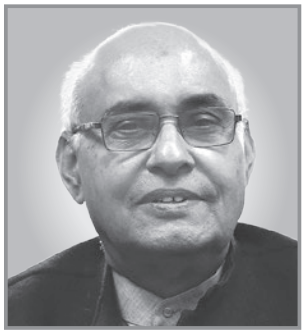

डॉ. महेश चंद्र शर्मा

संविधान सभा का दर्द

स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाने बैठी सभा ने जिन परिस्थितियों में काम किया, वह कम दुरूह नहीं थीं। एक विवरण कई तरह से विवश संविधान सभा की पीड़ा का

भारत के सार्वजनिक जीवन में हिंदू व मुस्लिम की समानांतर पहचानों की स्थापना का एक इतिहास है। संवैधानिक प्रक्रिया में इनके सम्मिलन की कहानी 1909 से प्रारंभ होकर संविधान सभा की बहस में प्रकट होती है। तीन अवसर हैं जब संविधान सभा में अल्पसंख्यक तत्व पर सदस्य अपना मंतव्य प्रकट करते हैं। अंग्रेजों ने अल्पसंख्यक के नाम पर ही भारत में मुस्लिम पहचान को हिंदू के समानांतर राष्ट्रीयता के रूप में प्रस्थापित किया था, जो अंततः 'द्वि-राष्ट्रवाद' के रूप में परिभाषित हुई।

पहला अवसर था, जब पं. जवाहरलाल नेहरू ने 13 दिसंबर 1946 को संविधान सभा में 'लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव' प्रस्तुत किया, अंततः उसी के आधार पर बाद में संविधान की उद्देशिका लिखी गई। इस प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय जवाहरलाल जी का काव्यात्मक व्याख्यान हुआ, जो विद्वतापूर्ण एवं भावनाओं से भरा हुआ था। साथ ही, उसमें वे मजबूरियाँ भी थीं, जो कैबिनेट मिशन की स्वीकृति के कारण संविधान सभा पर आरोपित थीं।

इस प्रस्ताव का समर्थन राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन ने किया था। अपने भाषण में उन्होंने कहा, "अवशिष्ट अधिकार और राजनैतिक अधिकार जिनसे देश की उन्नति और एकता में मदद मिल सकती है, केंद्रीय या संघ सरकार के साथ ही होने चाहिए। पर यह प्रस्ताव अवशिष्ट अधिकार प्रांतों को दे देता है, ताकि मुस्लिम लीग यह न कहे कि उनकी गैरहाजिरी में हमने मनमाने ढ़ंग से काम किया। इसके अलावा ब्रिटिश मंत्रिमंडल द्वारा प्रकाशित स्टेट पेपर ने भी जो इस परिषद् का आधार है, अवशिष्ट अधिकारों को प्रांतों को देने की बात कही है। हमने इस व्यवस्था को इस आशा से मंजूर कर लिया कि इससे मुस्लिम लीग हमारे साथ मिल-जुल कर काम कर सकेगी। मुस्लिम लीग हमें सहयोग दे, इस बात के लिए जहाँ तक साध्य था हम आगे बढ़े। बल्कि मैं तो यह कहूंगा कि इसके लिए हम जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गए। क्योंकि मुस्लिम लीग का लक्ष्य हमारे लक्ष्यों से बिलकुल प्रतिकूल है। और इससे हमारे भविष्य में काफी कठिनाइयाँ पैदा होंगी। लीग की सहयोग प्राप्ति के लिए हमने अपने आदर्शों के प्रतिकूल भी बहुत सी बातें मंजूर कर ली हैं। अब हमें यह बंद कर देना चाहिए और मुस्लिम लीग के साथ समझौते के लिए अपने बुनियादी उसूलों को नहीं भूल जाना चाहिए।"[1]

टंडन जी के भाषण का संदर्भ है, लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव में प्रस्तावित वह संघात्मक व्यवस्था, जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ केंद्र को नहीं वरन् राज्यों को दी गई थीं। यह अलग कहानी है कि जब यह प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ, तब संविधान सभा अखंड भारत का विधान बना रही थी, लेकिन बाद में हमें खंडित भारत के विधान के रूप में इस प्रस्ताव को संशोधित करना पड़ा। जो संघात्मक ढाँचा हमने स्वीकार किया उसमें जैसे टंडन जी चाहते थे, वैसे ही अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को नहीं वरन् केंद्र को दी गई।

लक्ष्य संबंधी इस प्रस्ताव के समय संविधान सभा भारत विभाजन की राजनीति के प्रति आशंकित तो थी, लेकिन वह विभाजन की राजनीति को परास्त कर सकने वाले विधान के निर्माण का प्रयत्न कर रही थी। जिस मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार कर रखा था, वह मुस्लिम लीग संविधान सभा के निर्माण में सहकारी बन जाए, इस आकांक्षा से अल्पसंख्यकों (मुसलमानों) को संतुष्ट करने का प्रयत्न कर रही थी। अतः लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव की चर्चा में मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति का मुद्दा छाया रहा।

इस बहस में डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने

नेतृत्व से एक आग्रह किया था कि अब संविधान सभा बन गई है, तो हमें कोई भी निर्णय इस सभा के बाहर नहीं करना चाहिए, "गत कुछ दिनों के अंदर जो घटनाएँ घटी हैं, उनको देखते हुए जान पड़ता है कि हमारा काम आसानी से न पूरा होगा। परंतु एक बात पर मैं जरूर जोर दूंगा कि चाहे जो कुछ किया जाए, वह विधान-परिषद के मार्फत ही किया जाए और किसी के नहीं।"[2]

डॉ. मुखर्जी की यह सलाह व्यवहार में नहीं लाई जा सकी। संविधान सभा थी, उसे अस्थाई संसद का दर्जा प्राप्त था। लेकिन विभाजन का विषय संविधान सभा के बाहर निर्णीत हुआ। साम्राज्यवादियों द्वारा प्रस्तुत 'इंडिया इंडिपेंडेंस एक्ट 1947' यदि संविधान सभा में लाया जाता, तो शायद वह स्वीकार न हो पाता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। संविधान सभा को विभाजन का निर्देश मानना पड़ा। यह दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास है।

संविधान सभा में इस विषय पर चर्चा का दूसरा अवसर था जब सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 'अल्पसंख्यकों के लिए निश्चित की गई परामर्श समिति' की रिपोर्ट दिनांक 27 अगस्त 1947 को संविधान सभा में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट को सर्वसम्मत बनाने में पटेल ने बहुत मेहनत की थी। इसमें चली लंबी एवं उत्तेजक बहस का उन्होंने अपने भाषण में जिक्र भी किया। वे चाहते थे कि संविधान सभा भी इसको सर्वसम्मति से स्वीकार कर ले। उन्होंने कहा, "पूर्वोत्पन्न पारस्परिक कटुता को त्यागते हुए और इस प्रकार अतीत को भुलाकर हम शुद्ध अंत:करण से आरंभ करेंगे। देश में संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र हो या पृथक निर्वाचन, पिछले दस वर्षों में जनता में भारी वाद-विवाद उत्पन्न हो गया है। इससे हमारी बहुत हानि हुई है और हमें इसका बहुत बड़ा मूल्य देना पड़ा है। परंतु सौभाग्य की बात है कि इसका निपटारा इस ढंग से हुआ है कि हम सारे ही इस बात पर सहमत हो गए कि भविष्य में पृथक निर्वाचन न हुआ करे और आज के पश्चात् हम संयुक्त निर्वाचन से ही काम लेंगे। इस प्रकार एक बहुत बड़ा लाभ हमें प्राप्त हुआ है।"[3]

देश विभाजन की सफलता को प्राप्त कर, अब मुस्लिम लीग संविधान सभा में उपस्थित हो गई थी। इन लीगी मुस्लिम सदस्यों पर सरदार पटेल की अपील का कोई असर नहीं हुआ तथा लीग के नेता बी. पोकर साहब बहादुर ने संशोधन रखते हुये 'पृथक निर्वाचन' की बहाली के पक्ष में लंबी तकरीर की संविधान सभा को उनके भाषण से तकलीफ हुई। मद्रास के ही श्री एम. अनंतशंकर आयंगर ने पोकर साहब के तर्कों का धारदार जवाब दिया (उनका दोनों भाषण इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित हैं)। सदन में अल्पसंख्यक तत्व के विषैलेपन के संदर्भ में अधिकांश भाषण हुए। उदाहरणार्थ श्री डॉ. पी.एस. देशमुख के भाषण के ये कतिपय अंश पठनीय हैं:

"मेरे विचार से भारतीय इतिहास में 'अल्पसंख्यक' से अधिक क्रूरतापूर्ण और कोई शब्द नहीं है। भारत ने ज्यों ही राजनैतिक शिशुकाल से बाहर पैर रखा तभी से अल्पसंख्यकों के अधिकार तथा उनकी रक्षा का भूत हमारे सामने आ खड़ा हुआ। तभी से यह देश की उन्नति का अवरोध किए हुए है। यह सब कुछ ब्रिटिश नीति का फल था जो कि अब इतिहास का विषय बन चुका है। अंग्रेजों की यह नीति बड़ी सफल रही। और सचमुच यह अल्पसंख्यक रूपी शैतान का ही कार्य है कि हमारा प्यारा देश, जो एक सौ वर्षों से अखंड चला आ रहा था, अब एक से अधिक भागों में बाँटा जा चुका है। इस भूत के आखिरकार अब पर काटे जा चुके हैं। सच पूछो तो यह एक उल्लेखनीय विजय है। मेरा खयाल है कि परामर्श समिति के सदस्यों ने ऐसा करके एक बहुत बड़ी बात की है। इसलिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

सबसे पहली और सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की है कि पृथक निर्वाचन हटा दिया गया है। दूसरी बात जो वे कर सके हैं, ... कानूनन और वैधानिक तौर पर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को मंत्रिमंडल में लेना अब आवश्यक नहीं। अत: मंत्रिमंडल की बनावट में एतत्संबंधी जो विकट कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ करती थीं, अब वे नहीं रहेंगी।..... मुझे विश्वास है कि मैं इस परिषद् के बहुत

बड़े भाग के हार्दिक उद्‌गार व्यक्त करता हूँ, जब मैं यह कहता हूँ कि इन अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों ने इस सारे मामले पर बड़ी उदारतापूर्ण और राष्ट्रीय भावों से प्रेरित होकर दृष्टिपात किया है। मैं सबकी ओर से उन्हें यकीन दिलाता हूँ कि यदि उन्होंने स्वयं ही इस बात को न बिगाड़ा तो भविष्य में कभी भी ऐसा अवसर न आएगा जबकि उन्हें अपने किए पर पछताना पड़े। यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए और यह है भी यथार्थ सच ही कि हम अत्यधिक दानी और उदारचित्त लोग हैं। परंतु फिर भी हमारे कतिपय मुस्लिम मित्रों ने प्राय: अंग्रेजी राजनीति से प्रभावित होकर हमें क्रूर और 'बहुमत से मादित' जालिम के रूप में चित्रित किया है। मुझे इस आरोप के लिए अभी तक कोई आधार नहीं मिल सका। परंतु फिर भी यह आरोप बड़े जोर-शोर से बार-बार दोहराया जाता रहा है ..... इन्हीं झूठी बुनियादों पर पाकिस्तान की माँग की गई थी, और इन्हीं अवास्तविक आधारों पर उसे स्वीकार कर लिया गया है। ..... अल्पसंख्यकों को भयभीत करने की तो बात ही छोड़ दो, तथ्य तो यह है कि बहुत सारे स्थानों पर अल्पसंख्यकों ने बहुसंख्यकों को भयभीत किया। मुसलमान प्रत्येक स्थान पर न्याय और औचित्य द्वारा, जो उन्हें मिलना चाहिए था, उससे कहीं अधिक अधिकार प्राप्त किए हुए थे। मेरे अपने विचित्र प्रांत में अब तक भी ऐसे अधिकारों का उपभोग वे कर रहे हैं जो कि 60 प्रतिशत कृषकों और श्रमिकों को हमारे अपने हिंदू शासकों ने अभी तक नहीं दिए हैं।

यहाँ अवसर नहीं कि इस विषय में इससे अधिक मैं और कुछ कहूँ। मुझे संतोष है कि कोई भी अल्पसंख्यक भविष्य में दूसरों के उचित अधिकारों पर छापा मारने का प्रयत्न न करेगा। पिछले कई वर्षों से बहुसंख्यकों पर अत्याचार होते आये हैं। दुर्भाग्यवश तथाकथित बहुसंख्यक बधिर और मूक हैं। हममें से बहुत से यद्यपि सर्वदा उनके नाम पर बोलने का प्रयत्न करते हैं, परंतु मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि हम अपने वचनों को कार्यरूप में परिणत करने में सर्वदा असफल रहे हैं। श्रीमान्, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि लाखों जाट, अहीर, गूजर, कुर्मी, कुनबी और आदिवासी तथा अन्यों को हमने अब तक कौन-सा स्थान दिया है? क्या यह सच नहीं कि हम अपने ही मामलों में बहुत उलझे रहे हैं और हमने उन हजारों निर्धन लोगों की ओर जिन्होंने हमारे लिए वर्तमान स्वतंत्रता को लाने में अपनी जानों की बलि दी है, कुछ ध्यान ही नहीं दिया। हमने राष्ट्र में उनका कौन-सा स्थान निश्चित किया है? यही न कि अब भी हम उनके संबंध में यही सोचते हैं कि वे पहले की तरह अब भी अंधाधुंध चुपचाप धर्म समझ कर हमारे द्वारा चुने गए व्यक्ति के लिए मत डाल देंगे? इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो स्थिति आज भी अंधकारमय है। और अब तो यह हमारे वर्तमान शासकों का कर्तव्य है। हाँ, यदि वे इस कर्तव्य को पूरा करना चाहते हैं तो उन्हें चाहिए कि जो कुछ मैंने कहा है उस पर विचार करें, सोचें और समझें और फिर उसे कार्य में परिणत करें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो कष्ट और बरबादी भविष्य में सामने आएगी। इसलिए मैं प्रेरणा करूंगा कि कम-अज-कम हब जब कि अल्पसंख्यक मंत्रिमंडल में अपना उचित भाग और सरकारी नौकरियों में उपयुक्त अनुपात लेने मात्र से ही संतुष्ट हो गए हैं, तो हमारे शासकों को चाहिए कि वे ग्रामीण जनता की ओर ध्यान दें। अब तक हम इनकी ओर पूरा ध्यान नहीं दे सके। ग्रामीण लोग सर्वदा सताए ही जाते रहे हैं और कांग्रेस के पवित्र नाम के जेरेअसर से भी उनका उपकार के स्थान पर अधिक अपकार ही हुआ है। राजनैतिक बातों के दवाबों में आकर बड़े-बड़े प्रजातंत्रवादियों ने भी छोटे-छोटे अल्पसंख्यकों के हितों को ही आगे लाने का प्रयत्न किया है। वे उन नौकरियों और सुविधाओं का उपभोग करते रहे हैं जिन पर कि उनका कुछ भी अधिकार न था। यह सुस्पष्ट ही है कि जो व्यक्ति अपने अधिकार से अधिक उपभोग करता है तो वह अवश्य ही किसी अन्य को अपने उचित अधिकार से वंचित करता है। विविध हिंदू संप्रदायों में शक्ति और नौकरियों का बँटवारा करते समय इस नियम को ध्यान में रखा जाना चाहिए और आज से आगे इस शैतानियत की नीति का खात्मा होना चाहिए।"[4] एक के बाद एक सदस्यों ने 'अल्पसंख्यक' तत्व की आलोचना करते हुए सरदार पटेल के प्रयत्नों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

सबसे पहली और सबसे बड़ी बात उन्होंने यह की है कि पृथक निर्वाचन हटा दिया गया है। दूसरी बात जो वे कर सके हैं, कानूनन और वैधानिक तौर पर अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को मंत्रिमंडल में लेना अब आवश्यक नहीं। अत: मंत्रिमंडल की बनावट में एतत्संबंधी जो विकट कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ करती थीं, अब वे नहीं रहेंगी। मुझे विश्वास है कि मैं इस परिषद् के बहुत बड़े भाग के हार्दिक उद्‌गार व्यक्त करता हूँ

लीग के नेताओं के भाषण से पटेल दुखी हुए। बहस का जवाब देते हुए उन्होंने कहा, "मुझे कोई भी स्वतंत्र देश ऐसा दिखलाइए कि जहाँ पृथक चुनाव विधि प्रचलित हो। यदि कहीं भी ऐसा हुआ तो मैं इसे यहाँ पर भी मान लूंगा। परंतु यदि देश विभाजन के पश्चात् भी इस अभागे देश में पृथक् चुनाव को जारी रखा गया तो सर्वत्र कष्ट ही कष्ट उदय होगा, जिसके कारण यहाँ रहना भी मुश्किल हो जाएगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह केवल मेरे भले के लिए ही नहीं, अपितु आपका अपना भला भी इसमें है कि गुजरी हुई बातें भूल जाओ ताकि हम संगठित हो सकें। मैं पाकिस्तान का भला चाहता हूँ। यह सफल हो और वे अपने ढंग पर निर्माण कर सकें। प्रभु करे कि वे खुशहाल हों। आओ, हम खुशहाली के लिए प्रतिस्पर्धा करें किंतु हमें उस प्रतिस्पर्धा में शामिल नहीं होना चाहिए जो कि पाकिस्तान में आज की जा रही है। आप नहीं जानते कि देहली में हम एक ज्वालामुखी पर बैठे हैं। आपको पता नहीं कि हमारे पड़ोस में जो कुछ हो रहा है उसके कारण हम पर कितना बोझ पड़ रहा है। मेरे मित्र संशोधन के प्रस्तावक महोदय ने कहा है कि मुस्लिम जाति आज सुसंगठित हैं। बहुत अच्छा, यह बात सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आपको अब और किसी सहारे की आवश्यकता नहीं (करतल ध्वनि), क्योंकि देश में आपके अतिरिक्त और अल्पमत भी

है जो कि सुसंगठित नहीं है। इस कारण वे विशेष सहायता और सुविधाओं के पात्र हैं। इसलिए हम उनके प्रति अधिक उदार होना चाहते हैं। परंतु इसके साथ ही हमने आपको जनसंख्या के अनुपात से सुरक्षा दे दी है। यह इसलिए किया गया है कि आपको, जिन्होंने पृथक चुनाव इत्यादि का इतने समय तक उपभोग किया है, कहीं व्यवहार भेद की शिकायत उत्पन्न न हो। संसार के स्वतंत्र देशों में इस प्रकार की 'सुरक्षा' कहीं भी नहीं दी गई। क्या आप मुझे दिखा सकेंगे? यह मैं आपसे पूछता हूँ। आप एक सुसंगठित संप्रदाय हैं। मुझे बताएँ कि फिर आप एक पंगु की तरह क्यों व्यवहार करते हैं? क्योंकि आप सुसंगठित हैं अत: आपको एक वीर और शक्तिशाली मनुष्य की तरह आचरण करते हुए सीधे खड़े हो जाना चाहिए। जो देश के इस ओर नई जाति निर्माण की जा रही है, उसका ध्यान कीजिए। हमने एक नई जाति की नींव रख दी है। श्री चौधरी खलीकुज्जमा का कहना है कि क्योंकि इस विधान के अधीन देश से अंग्रेजी अंश चला गया है अत: हमें आपस की आशंकाएँ भूल जानी चाहिए। अंग्रेजी अंश तो चले गए हैं परंतु वे शरारत तो पीछे छोड़ गए हैं।"[5]

पटेल के भाषण के बाद सभी सदस्यों ने सामूहिक रूप से पोकर साहब से आग्रह किया कि अपना संशोधन वापस ले लीजिए, लेकिन इस पर भी पोकर साहब नहीं माने, वे अपने संशोधन पर अड़े रहे परिणामत: मतदान द्वारा उनके संशोधन को 'अस्वीकृत' किया गया।

मुस्लिम लीग के इस व्यवहार ने पटेल को आहत ही नहीं कुछ क्रुद्ध भी किया। जब पूरी रिपोर्ट प्रस्तुत हो चुकी तथा बहस भी हो चुकी तब समापन में उनका आक्रोशित भाषण हुआ, "जहाँ तक मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों द्वारा पेश किए हुए संशोधन का संबंध है, मुझे यह जान पड़ता है कि मेरी धारणा भ्रमपूर्ण थी। यदि मुझे यह मालूम होता तो मैं निश्चित रूप से किसी प्रकार के संरक्षण के लिए सहमत न होता (वाह, वाह)। जब मैं आबादी के आधार पर जगहें सुरक्षित रखने के लिए सहमत हुआ तो मैं इसी ख्याल से राजी हुआ कि मुस्लिम लीग के हमारे मित्र यह समझेंगे कि हमारा दृष्टिकोण कितना तर्कपूर्ण है और देश के विभाजन के उपरांत बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप आचरण करेंगे। .....देश का विभाजन रोकने के लिए राष्ट्रीय मुसलमानों ने एक मध्यम मार्ग के रूप में यह युक्ति निकाली जो देश में एकता स्थापित होने तक प्रयोग में रहती, क्योंकि हमारा विचार था कि हम बाद को उसे त्याग देंगे, परंतु अब देश का विभाजन पूर्ण रूप से हो गया है और फिर भी आप कहते हैं कि हम उसी ढंग को फिर अपनाएंगे और एक बार फिर विभाजन करेंगे।.....जो लोग इस तरह की बातें चाहते हैं उनके लिए पाकिस्तान में जगह है, यहाँ नहीं (हर्ष ध्वनि)। यहाँ हम एक राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं और एक ही राष्ट्र की नींव डाल रहे हैं और जो लोग फिर विभाजन करना चाहेंगे और फूट के बीज बोना चाहेंगे उनके लिए यहाँ कोई जगह नहीं रहेगी। मैं इसे साफ-साफ बता देना चाहता हूँ। (वाह वाह)।.....मेरी आपसे यह अपील है और यही अपील है कि आप अपने दिल को बदलिए और सिर्फ जबान ही को न बदलिए, क्योंकि उनसे यहाँ कोई फायदा न होगा। इसलिए मैं आपसे फिर अपील करता हूँ, मित्रों, आप अपने रुख पर फिर विचार कीजिए और अपने संशोधन को वापस ले लीजिए।.....मुसलमान अल्पसंख्यकों की रक्षा करने में मुझे कितना परिश्रम करना पड़ता है। इसलिए मैं यह राय देता हूँ कि आप यह न भूलिए कि अब वे दिन नहीं रह गए हैं जब इस प्रकार का आंदोलन चलाया गया था और अब हम एक नये युग में प्रवेश कर रहे हैं। इसलिए मैं आपसे फिर अपील करता हूँ कि आप अतीत काल को भूल जाइए। जो कुछ हुआ है उसे भूल जाइए। आप जो चाहते थे वह आपको मिल गया है। आपका एक अलग राज्य हो गया है और इसे याद रखिए, आप ही लोग और न कि पाकिस्तान में रहने वाले लोग उसके लिए जिम्मेदार हैं। आप ही ने आंदोलन चलाया। आपकी इच्छा पूरी हो गई। अब आप क्या चाहते हैं, मेरी समझ में नहीं आता। हिंदू बहसुख्यक प्रांतों में आप ही अल्पसंख्यकों ने आंदोलन चलाया। आपने देश का विभाजन करा दिया और अब फिर आप मुझ से कहते हैं कि कम से कम छोटे भाई का प्रेम प्राप्त करने के लिए मुझे फिर उसी बात के लिए राजी हो जाना चाहिए, यानी विभाजित भाग का भी फिर विभाजन करना चाहिए। खुदा के लिए यह तो समझिए कि हम भी कुछ समझते हैं। आपके लिए कोई अन्याय न होगा। आपके प्रति उदारता दिखाई जाएगी, परंतु आपकी तरफ से भी यही होना चाहिए। यदि यह न होगा तो आप यह समझ लीजिए कि चाहे कितने ही मीठे शब्द काम में लाएँ, आप अपने उद्देश्य को न छिपा सकेंगे। इसलिए मैं साफ शब्दों में आपसे यह जोरदार अपील करना चाहता हूँ कि हमें अतीत को भूल जाना चाहिए और एक ही राष्ट्र के लोग हो जाना चाहिए।"[6] संविधान में पुन: यही अवसर फिर आया जब संविधान का मसौदा अंतिम रूप से पारित हुआ। यह संभव नहीं है कि किसी आलेख में इस बहस की संपूर्णता का अहसास करवाया जा सके।

बहुत महत्वपूर्ण फैसले हुए। पृथक निर्वाचन क्षेत्र समाप्त किए गए। मंत्रिमंडल में आरक्षण का प्रावधान भी निरस्त हुआ। अल्पसंख्यकों की गणना में अंग्रेजों ने अनुसूचित एवं जनजातियों को भी शामिल कर रखा था। पहले श्री के.एम. मुंशी तथा बाद में श्री के.टी. शाह के संशोधनों के माध्यम से इन्हें अल्पसंख्यक परिधि से बाहर किया गया। संविधान में 'अल्पसंख्यकों' का उल्लेख बहुत सामान्य ढंग से हुआ था। लेकिन जिस कारण से अंग्रेज अल्पसंख्यक पृथकता को अपने साम्राज्य के हित में भुना रहे थे। आजादी के बाद भारत के राजनैतिक दल 'वोट बैंक' की चाहत में पुन: इस विषबेल को सींचते रहे। आज की ध्रुवीकरण की राजनीति इसी का विषफल है।

संदर्भ

1. भारतीय विधान परिषद्, दि. 13 दिसंबर 1946 अवशिष्ट, पृ. 17
2. भारतीय विधान परिषद्, दि. 17 दिसंबर 1946, पृ. 12
3. भारतीय विधान परिषद्, 27 अगस्त 1947, पृ. 4
4. भारतीय विधान परिषद, 27 अगस्त 1947 पृ. 9,10,11
5. भारतीय विधान परिषद, 27 अगस्त 1947 पृ. 57,58
6. भारतीय विधान परिषद, 28 अगस्त 1947, पृ. 30, 31, 32, 3

डॉ. विनय कौड़ा

पश्चिमी देशों के संविधान में अल्पसंख्यक

अल्पसंख्यक अधिकारों का मुद्दा आज दुनिया भर में एक चर्चित मुद्दा है, लेकिन इसका इतिहास बहुत पुराना नहीं है। पश्चिम में इसके खास कारण हैं और उन पर दृष्टि डालना दिलचस्प होगा

पश्चिम में अल्पसंख्यक अधिकारों का इतिहास[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से अल्पसंख्यकों के अधिकारों की अवधारणा अथवा मत बहुत पुराना नहीं है। अभी कुछ अरसे पहले सन् 1966 में ही, संयुक्त राष्ट्र ने अंतरराष्ट्रीय नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार नियम के अनुच्छेद 27 में 'अल्पसंख्यक' की पहली परिभाषा प्रस्तुत की, जिसमें धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपने धर्म के प्रति आस्था रखने और उसका पालन करने का अधिकार दिया गया है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक, ऐसी किसी अवधारणा को न तो कोई मान्यता प्राप्त थी और न ही उसे स्वीकार किया गया था। अल्पसंख्यकों को लेकर प्रश्न उन दिनों उठे जब राज्य व्यवस्था का पुनर्गठन हो रहा था। राज्य व्यवस्था में सुधार के फलस्वरूप इस बात को लेकर चुनौतियाँ उठ खड़ी हुई कि कौन स्थानीय और कौन मानव समुदायों व अंतरराष्ट्रीय सीमाओं से बाहर का है। वेस्टफेलिया की शांति संधि में न केवल उन विभिन्न संप्रभु राष्ट्रों के बीच सामान्य क्षेत्रीय पुनर्वितरण को व्यापक स्थान दिया गया, जिन्हें तीस वर्षीय युद्ध में उलझा लिया गया था, बल्कि 'ऑसबर्ग का अपराध स्वीकार करने वालों' यानी प्रोटेस्टैंटों को कुछ रिआयतें भी दी गईं। यहाँ उल्लेख आवश्यक है कि सन् 1555 की ऑसबर्ग संधि कैथॉलिकों और लुथेरियनों के बीच शांति की प्रतीक है; इसने राज्य के भीतर धार्मिक एकता की माँग को कानूनी रूप दिया, जिसका अर्थ था कि किसी देश के शासक का धर्म ही उस देश का धर्म होगा। किंतु धार्मिक भावना धूमिल नहीं हुई और क्षेत्रीय मतभेदों के फलस्वरूप देशों के भीतर पृथक पहचानों की भावना के मजबूत होने पर वैश्विक ईसाई धर्म का विघटन हो गया। "जिसका शासन उसका धर्म" के सिद्धांत के कारण पश्चिमी सभ्यता में धर्म की स्वतंत्रता में गुणात्मक विकास हुआ। इसका अर्थ यह था कि ईसाई प्रभावित समस्त यूरोप में धार्मिक सहिष्णुता का धीरे-धीरे प्रसार होता गया, और राजाओं के अधिकारों पर कुछ सीमित कर दिया गया।[2]

वेस्टफीलिया की संधि में संप्रभु राष्ट्रों के धार्मिक अधिकारों को पुनः कायम करने का प्रयास किया गया, किंतु इन अधिकारों को सहिष्णुता की माँग के अनुरूप सीमित कर दिया गया। प्रोटेस्टैंटों का गिरजाघर और धर्म-संपत्तियाँ वापस कर दी गईं, जो 1624 में उनके अधिकार में थीं। सन् 1624 में ओस्नाब्रूक की संधि में अंतःकरण की आजादी और अल्पसंखयकों को सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में उनके धर्मों का पालन करने की अनुमति दी गई।[3] इसी प्रकार, निजमेगेन (1678) और रिसविक (1697) की संधियों, जिन्होंने नीदरलैंड्स पर नियंत्रण को लेकर फ्रेंच/स्पैनिश संघर्ष से उत्पन्न विवादों का निपटान किया, में उन सभी गरिमाओं और धर्मवृत्तियों को बहाल रखने का वचन दिया गया, जिनका लाभ ईसाई धर्म की सभी आस्थाओं के अनुयायियों को युद्ध आरंभ होने से पहले प्राप्त था। वेस्टफेलिया के महत्व पर इसलिए ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि क्षेत्रीय अधिकार का निर्धारण और संप्रभु राष्ट्रों के भौगोलिक विस्तार का सीमांकन किया जा रहा था। जिस परिस्थिति में फर्डिनैंड और आइसाबेला ने यहूदियों को स्पेन से बाहर किया, उससे तुलना करने पर हम पाएंगे कि वेस्टफीलिया व्यवस्था की उपलब्धि थी -राजाओं का उनकी प्रजाओं के प्रति न्यायसम्मत व्यवहार का वर्गीकरण करना।

पैरिस की संधि (1763) में, ग्रेट ब्रिटेन के

जॉर्ज तृतीय ने रोमन कैथोलिकों को उन क्षेत्रों में अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता दी जो पहले फ्रांस के कब्जे में थे। इसे लुई पंद्रहवें के प्रति सद्भाव के एक भाव के रूप में देखा गया। इस बात से वह व्यापक विचार स्पष्ट हो जाता है कि अल्पसंख्यकों की ऐसी कोई भी धार्मिक सुनिश्चितता अंतरराष्ट्रीय शांति के हित में किसी शासक की उसकी नई प्रजाओं को एक विशेष छूट थी। इन प्रजाओं को लेकर यह कतई नहीं माना गया कि ये अधिकार उन्हें उनके मनुष्य होने के नाते अथवा प्राकृतिक कानून के आधार पर दिए गए, जो हस्तांतरित न किए जा सकें; ये अधिकार शासक के विवेक पर निर्भर थे। संप्रभु राष्ट्र और संधि के नियमों के हितों के बीच इन समुदायों से संबद्ध किसी संघर्ष की स्थिति में उस संप्रभु राष्ट्र के कानून अभिभावी होंगे। संक्षेप में, भूक्षेत्र पर कब्जा करने वाले किसी राजा के संप्रभु अधिकार को इन नियमों से सीमित नहीं किया गया बल्कि वह निरंकुश बना रहा।

राजओं के किसी संघ से अंतरराष्ट्रीय समाज का किसी राष्ट्र-राज्य में परिवर्तन एक क्रमिक प्रक्रिया थी। राष्ट्र-राज्य के सिद्धांत को व्यापक स्तर पर स्वीकृति मिलते-मिलते कई पीढ़ियाँ गुजर गईं। किंतु, विएना कांग्रेस के अंतिम अधिनियम (1815) में इस बात का प्रमाण मिलता है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों की राजनैतिक संरचना में परिवर्तन शुरू हो चुका था। यह राष्ट्रीय अस्मिताओं के उदय का परिणाम था। विएना कांग्रेस में हुई विभिन्न संधियाँ अल्पसंख्यकों अधिकारों के विकास में मील का महत्वपूर्ण पत्थर सिद्ध हुईं क्योंकि वे उस पहले अवसर का प्रतीक हैं, जब अल्पसंखयकों की व्याख्या धार्मिक समुदायों के बजाय राष्ट्रीय समूहों के रूप में की गई। उन्नीसवीं शताब्दी जैसे-जैसे बीतती गई, 1878 में बर्लिन कांग्रेस तक, अल्पसंख्यकों अधिकारों की इस राष्ट्रीय संरचना को स्वीकृति मिलती रही, तब तक पश्चिमी यूरोप के बाहर नए राष्ट्र-राज्यों के उदय के फलस्वरूप अल्पसंख्यकों का मुद्दा मुखर हो चुका था। नए सदस्य बनाते हुए अंतरराष्ट्रीय समाज जब पूरब की ओर, खास कर बाल्कन प्रायद्वीप की ओर, अग्रसर हुआ, तब अल्पसंख्यकों के नागरिक और राजनैतिक अधिकारों का और विस्तार हुआ। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर इसके बहुत अधिक प्रभाव पड़े। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा अब राज्यों की दृष्टि में अंतरराष्ट्रीय सद्भाव का कार्य नहीं रह गई थी, बल्कि अंतरराष्ट्रीय समाज में अब उसे नए राष्ट्र-राज्यों की पूर्वापेक्षाओं के रूप में देखा जाने लगा।

हालाँकि राष्ट्र-राज्य प्रथा की झलक वेस्टफेलिया की संधि में देखी जा सकती है, किंतु इसके पश्चात राष्ट्र और राज्य का बोध स्पष्ट हो गया। सामान्य शब्दों में, किसी राष्ट्र के आधारभूत सिद्धांत को एक सामूहिक धर्म, भाषा, जाति, नृजातीयता, अथवा साझा इतिहास और संस्कृति के रूप में समझा जाता है। यूरोपीय देशों में लंबे समय तक चले विश्व युद्धों के फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों का एकीकरण और कई अन्य का विघटन हुआ, और इस प्रकार अलग-अलग राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए। जब विश्वयुद्ध समाप्त हुए, उस समय तक विश्व मानचित्र पर यूरोपीय राष्ट्रों की सीमाओं की हदबंदी हो चुकी थी। इस चरण ने भूगोल में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया किंतु संबद्ध समाजों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचना पर इसका प्रभाव पड़ा। युद्धों की दहशत, अंतर-नृजातीय तनावों, नृजाति-आधारित राजनैतिक संगठन, जनसंहार, जातीय भेदभाव और ऐसे कई अन्य कारकों ने भी अल्पसंख्यकों के मुद्दे को बहस की अग्रिम पंक्ति में ला खड़ा किया।

विभिन्न समुदायों का देशपरिवर्तन आम हो गया, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर जनसांख्यिकी में परिवर्तन हुए। अल्पसंख्यकों को आम तौर पर राजनैतिक रूप से बाहरी माना जाता है, जिनकी अस्मिताएँ उस मूलतत्व से नहीं मिलतीं, जो उस संप्रभु अधिकार क्षेत्र की राजनैतिक सदस्यता का सीमांकन करता है, जिसकी सीमा में वे रहते हैं।[4] हालांकि, सिद्धांत में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता और अधिकार वैध प्रतीत होते हैं, किंतु क्षेत्रों के पुनर्वितरण, जिसके चलते विभिन्न अस्मिताओं का उदय हुआ, में अंतर्निहित कठिनाइयों के कारण व्यवहार में

इनका प्रयोग करना कठिन होता है।[5] जीवन के विभिन्न पहुलओं में राजनैतिक अस्थिरता और असुरक्षा के पनपने के चलते बहुधा बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के आरोपित मतों के अनुरूप व्यक्तिगत और सामूहिक अस्मिताएँ मजबूत होती हैं।[6]

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी संविधानवाद के अंतर्गत, 'धार्मिक अल्पसंख्यकों' की धारणात्मक परिभाषा में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों में मानव अधिकारों के उभरते दृष्टिकोणों से जुड़े विकास के विभिन्न चरण सामने आए हैं। पश्चिमी विद्वत समाज और यूरोपीय देशों में अल्पसंख्यकों अधिकारों के प्रति बढ़ते प्रेम का कारण मुख्यत: धार्मिक अल्पसंख्यक, धर्म की स्वतंत्रता की विभिन्न व्याख्याएँ, आस्थावादियों और अनास्थावादियों के बीच समानता, और महिला-पुरुष पहचान के अनुरूप मानव अधिकारों के क्रियान्वयन समेत कई परस्पर संबद्ध कारक हैं।

यूरोपीय परंपराएँ

अल्पसंख्यकों का एकमात्र विशिष्ट संदर्भ यूरोपीय मानवाधिकार नियम के अनुच्छेद 14 में मिलता है : "नियम में निर्धारित अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपभोग महिला-पुरुष, जाति, रंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक अथवा अन्य मत, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक मूल, किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक से संबंध, संपत्ति अथवा अन्य स्थिति के आधार पर भेदभाव के बिना सुरक्षित रहेगा।"[7] मानव अधिकारों के यूरोपीय न्यायालय ने स्थापना दी है कि यदि कोई राज्य किसी अल्पसंख्यक समूह के मामले में सुधार के सकारात्मक कदम उठाता है, तो इन कदमों के आधार पर बहुसंख्यक भेदभाव का कोई दावा नहीं कर सकता। सामान्य स्थिति में, "एक संतुलन कायम होना चाहिए, जो अल्पसंख्यकों के साथ निष्पक्ष और समुचित व्यवहार सुनिश्चित करे और वर्चस्व की किसी स्थिति के दुरुपयोग को रोके।"[8] किंतु निजी तौर पर अथवा किसी अल्पसंख्यक समूह के लोगों के बीच किसी अल्पसंख्यक भाषा के उपयोग को अनुच्छेद 10 के तहत सुनिश्चित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के अनुरूप अनुमति होगी। इसलिए, सरकार अथवा अन्य संस्थाओं या लोगों के हस्तक्षेप के

अल्पसंख्यकों का एकमात्र विशिष्ट संदर्भ यूरोपीय मानवाधिकार नियम के अनुच्छेद 14 में मिलता है : "नियम में निर्धारित अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपभोग महिला-पुरुष, जाति, रंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक अथवा अन्य मत, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक मूल, किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक से संबंध, संपत्ति अथवा अन्य स्थिति के आधार पर भेदभाव के बिना सुरक्षित रहेगा।" मानव अधिकारों के यूरोपीय न्यायालय ने स्थापना दी है कि यदि कोई राज्य किसी अल्पसंख्यक समूह के मामले में सुधार के सकारात्मक कदम उठाता है, तो इन कदमों के आधार पर बहुसंख्यक भेदभाव का कोई दावा नहीं कर सकता

बिना अल्पसंख्यकों को अपने समाचारपत्रों के प्रकाशन या संचार के अन्य माध्यमों का उपयोग करने का अधिकार है।[9] राज्य से अल्पसंख्यक समूहों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति की अनुमति देने की आशा की जाती है; कभी-कभी राज्य की राजनैतिक संरचना से प्रश्न के मूल्य पर भी।

यूरोपीय संघ के मूल अधिकार घोषणापत्र के अनुच्छेद 21 के तहत किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग की भाषा अथवा सदस्यता को लेकर किसी प्रकार का भेदभाव वर्जित है।[10] इसके अतिरिक्त, घोषणापत्र के अनुच्छेद 22 के अनुसार संघ सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषायी विविधता का सम्मान करेगा। यूरोपीय संघ और इसके सदस्य राज्यों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों को प्रदत्त महत्व को क्षेत्रों की समिति की सत्ता में स्थान दिया गया है। यह संस्थान आयोग, परिषद और यूरोपीय संसद की एक सलाहकार संस्था है। सदस्य राज्यों के क्षेत्रों और नगरों को यूरोपीय संघ की निर्णय-निर्धारण प्रक्रिया में अपना मत रखने का अधिकार है। क्षेत्र समिति अल्पसंख्यकों की कोई संस्था नहीं है, किंतु बस्ती के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी गतिविधियों के माध्यम से वे अपने हितों को समिति में रख सकते हैं। यूरोपीय संघ की परिषद में भेदभाव के विरुद्ध कई निर्देशक तत्व भी शामिल किए गए हैं, जैसे सन् 2000 से नस्लीय अथवा नृजातीय मूल के परे लोगों के बीच समान व्यवहार का सिद्धांत लागू करने का परिषद का निर्देश (निर्देश 2000/43/ईसी)। किंतु, ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जो भाषा अथवा किसी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूह की सदस्यता के आधार पर सीधे तौर पर भेदभाव को दूर करे।

जर्मनी

जर्मनी में नृजातीयता का कोई आधिकारिक विवरण नहीं है। युद्ध के बाद जर्मन सरकारों ने अपने यहाँ पहले से मौजूद अल्पसंख्यकों को कुछ संरक्षण देने का प्रयास किया। सॉर्ब जाति के अधिकारों को सन् 1948 में सैक्सनी में और सन् 1950 में ब्रैंडेनबर्ग में कानूनी मान्यता दे दी गई। श्लेसविग-हॉल्स्टीन की डेन जाति के लोगों और फ्रीजियनों के अधिकारों को भी मान्यता मिल गई। सन् 1955 में पश्चिम जर्मनी और डेनमार्क की सरकारों के बीच एक संयुक्त घोषणा की गई, जिसने डेनमार्क के अल्पसंख्यकों के वैध अधिकारों को श्लेसविग-हॉल्स्टीन में शामिल करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया, वहीं डेनमार्क में जर्मन अल्पसंख्यकों को भी समान संरक्षण मिल गया।

सन् 1949 के बेसिक लॉ - संविधान - में उल्लेख है कि सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हैं। इसमें यह व्यवस्था भी दी गई है कि किसी भी सार्वजनिक संस्थान में महिला-पुरुष, कुल, नस्ल, भाषा, मूल, आस्था, अक्षमता, धार्मिक और राजनैतिक विचारों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए।[11] जर्मनी के एकीकरण के बाद, देशांतरण में भी वृद्धि हुई, हालाँकि आप्रवासी समुदाय राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए देशों की कानूनी संरचना के भीतर निर्धारित अधिकारों का उपभोग नहीं कर पाते।

सितंबर, 1997 में संघीय गणराज्य जर्मनी ने फ्रेमवर्क कन्वेंशन फॉर दि प्रोटेक्शन ऑफ नेशनल माइनॉरिटीज (एफसीएनएम) को स्वीकार किया। फिर सितंबर, 1998 में यूरोपियन चार्टर फॉर रीजनल ऑर माइनॉरिटी लैंग्वेजेज (क्षेत्रीय अथवा अल्पसंख्यक

भाषाओं के यूरोपीय घोषणापत्र) को मंजूरी मिली। परिणामस्वरूप, जर्मनी अपने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के चार समूहों को मान्यता देता है। आधिकारिक रूप से उनका चित्रण इस प्रकार किया गया है[12]

डेनमार्कवासी अल्पसंख्यक - 50,000 (श्लेसविग-हॉल्स्टीन राज्य में संकेंद्रित)
फ्रीजियन नृजातीय समूह - 60000-70000 (पूर्वी और उत्तरी फ्रीजिया में अवस्थित)
रोमा और सिंती - अनुमानतः 105,000
सॉर्बियन लोग - 60,000 (मुख्य रूप से सैक्सनी और ब्रैंडेनबर्ग में)

कानूनी संरचना - विशिष्ट अल्पसंख्यक कानून एवं मानदंड[13]

डेनमार्क वासी अल्पसंख्यक - श्लेसवर्ग-हॉल्स्टीन का संविधान उनका संरक्षण करता है। उन्हें बॉन-कोपेनहेगेन घोषणा (1955) के अनुरूप विशेष सुरक्षा दी जाती है। फेडरल इलेक्शन लॉ (संघीय निर्वाचन कानून) की तरह, श्लेसविग-हॉल्स्टीन इलेक्शन कोड (श्लेसविग-हॉल्स्टीन निर्वाचन संहिता) में डेनमार्क वासी अल्पसंख्यक पार्टियों के विशेषाधिकार निहित हैं। इसका अर्थ यह है कि '5-प्रतिशत-उपधारा', श्लेसविग-हॉल्स्टीन में डेनमार्कवासी अल्पसंख्यक समुदाय के पक्षों पर लागू नहीं होती, जिसके अनुसार केवल उन पक्षों को ध्यान में रखा जाता है, जो कम से कम पांच प्रतिशत मत प्राप्त करते हैं अथवा जिन्हें कम से कम तीन निर्वाचन जिलों में प्रत्यक्ष जनादेश मिलता है।

फ्रीजियन - फ्रीजियनों को श्लेषविग-हॉल्स्टीन के संविधान के तहत सुरक्षा दी जाती है। सन् 2004 में श्लेसविग-हॉल्स्टीन संसद (लैंटैग) ने 'फ्रीजियन कानून' अपनाया, जो फ्रीजियन भाषा और संस्कृति को सहारा और सुरक्षा देता है। यह फ्रीजियन भाषा के स्वरूपों और उनके अबाध उपयोग को मान्यता देता है तथा फ्रीजियनों के विशेष अधिकार सुनिश्चित करता है।

लुसाशियन सॉर्ब - लुसाशियन सॉर्बों को जर्मन एकीकरण संधि की एक संलेख टिप्पणी के अनुरूप और ब्रैंडेनबर्ग तथा सैक्सन के स्वतंत्र राज्य के स्थानीय कानूनों के तहत स्पष्ट सुरक्षा दी जाती है, जहां अल्पसंख्यक समुदाय रहता है।

सिंती और रोमा - नवंबर, 2012 में श्लेसविग-हॉल्स्टीन संविधान के संशोधन में पहली बार जर्मन सिंती और रोमा को जर्मन संघ के एक क्षेत्र में सुरक्षा सुनिश्चित की गई।

डेनिश, ऊपरी और निचली सॉर्बियन, उत्तरी और सेटर फ्रीजियन, और जर्मन रोमा तथा सिंती की रोमनी भाषा को जर्मनी में अल्पसंख्यक भाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त है। जर्मनी में अल्पसंख्यकों और क्षेत्रीय भाषाभाषियों के प्रोन्नयन और संरक्षण संबंधी विधेयकों को संघीय, लैंडर और नगरपालिका स्तरों पर लागू किया जा रहा है। अल्पसंख्यक मुद्दों पर काम करने वाली संस्थाओं में, आंतरिक, भवन एवं समुदाय मंत्रालय के भीतर नृजातीय जर्मन पुनर्वासियों और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूहों से संबद्ध मामलों की देखभाल के लिए संघ शासन आयोग है, जो केंद्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक समूह से संबद्ध मामलों का मुख्य संपर्क स्थल है।

यह मंत्रालय जर्मनी में चार मान्यताप्राप्त राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समुदायों में से प्रत्येक की समस्याओं पर केंद्रित चार सलाहकार समितियों की देखरेख करता है। संघ शासन आयुक्त इन सभी का अध्यक्ष होता है। अल्पसंख्यक सचिवालय दूसरी संस्था है, जिसकी स्थापना केंद्रीय संस्थाओं और जर्मनी के मान्यताप्राप्त अल्पसंख्यक समूहों के छत्र संगठनों के बीच संपर्क कार्यालय के रूप में सन् 2005 में हुई थी। यह राज्य द्वारा वित्तपोषित एक संस्था है, जिसकी सहायता संघ का आंतरिक मंत्रालय करता है। सचिवालय अल्पसंख्यक परिषद के कार्यों में सांगठनिक सहायता प्रदान करता है, जिसमें जर्मनी के ऊपर वर्णित चार अल्पसंख्यक समूहों के छात्र संगठनों के प्रतिनिधि होते हैं और जो संघीय कार्यकारी एवं नियामक निकायों के समक्ष इन अल्पसंख्यक समूहों का प्रतिनिधित्व करता है। अल्पसंख्यक परिषद की बैठकों का आयोजन वर्ष में कम से कम दो बार किया जाता है।

भेदभाव के मामलों में संघीय भेदभाव-रोधी अभिकरण संपर्क का मुख्य स्थल है। इसकी स्थापना जनरल इक्वल ट्रीटमेंट ऐक्ट के अनुरूप सन् 2006 में हुई। यह जर्मनी में रोमा और सिंती जैसे संकटग्रस्त समुदायों के साथ हो रहे भेदभाव समेत असमानता और भेदभाव के प्रतिमानों पर शोध का आयोजन भी करता है। यहूदी समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने और देश में यहूदीवाद विरोधी गतिविधियों को रोकने के लिए जर्मनी में सन् 2018 में इस मंत्रालय में फेडरल गवर्नमेंट कमिश्नर फॉर जूइश लाइफ और फाइट एगेंस्ट एंटी-सेमिटिज्म की स्थापना हुई।

विधिक संरचना[14]

जर्मन बेसिक लॉ (ग्रुंद्जेसेत्ज) के अनुसार भाषा, जन्मभूमि और मूल के आधार पर भेदभाव हर रूप में वर्जित है (जर्मन बेसिक लॉ का अनुच्छेद 3, पैरा 3, पहला वाक्य)। यह विधायिका, सभी स्तरों पर प्रशासन और न्यायपालिका सभी के लिए अनिवार्य है। जर्मन बेसिक लॉ में अभी तक अल्पसंख्यक समूहों के लिए कोई अनुच्छेद नहीं है। किंतु, अल्पसंख्यक परिषद इस जर्मन बेसिक लॉ में एक अल्पसंख्यक अनुच्छेद शामिल करने को लेकर आंदोलन करती रही है।

जर्मन बेसिक लॉ (ग्रुंद्जेसेत्ज) के अनुसार भाषा, जन्मभूमि और मूल के आधार पर भेदभाव हर रूप में वर्जित है (जर्मन बेसिक लॉ का अनुच्छेद 3, पैरा 3, पहला वाक्य)। यह विधायिका, सभी स्तरों पर प्रशासन और न्यायपालिका सभी के लिए अनिवार्य है। जर्मन बेसिक लॉ में अभी तक अल्पसंख्यक समूहों के लिए कोई अनुच्छेद नहीं है। किंतु, अल्पसंख्यक परिषद इस जर्मन बेसिक लॉ में एक अल्पसंख्यक अनुच्छेद शामिल करने को लेकर आंदोलन करती रही है

फ्रांस

संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार समिति में फ्रांस ने प्रावधान के अनुच्छेद 27 के प्रति अपनी

आपत्ति प्रकट करते हुए जो आधिकारिक वक्तव्य दिया है, उसके अनुसार, "फ्रांस एक ऐसा देश है जहाँ कोई अल्पसंख्यक नहीं है।" इसे फ्रांसीसी कानून के तहत समानता के संवैधानिक सिद्धांत पर आधारित समेकन के 'रिपब्लिकन मॉडल' के हवाले से उचित ठहराया गया है।[15]

सन् 1789 में राइट्स ऑफ मैन एंड ऑफ दि सिटिजन की घोषणा की मूल विषयवस्तु में गणतंत्रवादी प्रारूप प्रस्तुत किया गया है, जिसे सन् 1946 में संविधान की प्रस्तावना में, और सन् 1958 के संविधान में सामूहिक रूप से ब्लॉक द कन्स्टिट्युशन्नालिते, अथवा बॉडी ऑफ कॉन्स्टिट्युशनल रूल्स (संवैधानिक नियम निकाय) की संज्ञा दी गई।[16]

फ्रांसीसी संविधान के अनुच्छेद 2 के अनुसार, "फ्रांस एक अविभाज्य, पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और सामाजिक गणराज्य है। यह कानून के समक्ष मूल, जाति अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सभी नागरिकों की समानता सुनिश्चित करता है। यह सभी आस्थाओं का सम्मान करता है। तिरंगा - नीला, सफेद और लाल - ध्वज इसका राष्ट्रीय प्रतीक है। 'मार्सेलेज' इसका राष्ट्रगान है। 'स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा' इस गणराज्य का आदर्श है। शासन लोगों का, लोगों के द्वारा, लोगों के लिए इसका सिद्धांत है।"

सन् 1789 की क्रांति और मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा फ्रांसीसी नागरिकता और अल्पसंख्यक समूहों के साथ उसके संबंध की परिभाषा में एक महत्वपूर्ण क्षण का प्रतीक है। घोषणा के अनुच्छेद 1 के अनुसार : "लोग जन्म लेते और अधिकारों में स्वतंत्र व समान होते हैं। सामाजिक विशेषताओं का समान उपयोगिता के अतिरिक्त कोई और आधार नहीं हो सकता।"[17] इस गणतांत्रिक भावना में, समानता की व्याख्या अल्पसंख्यक अधिकारों के बहिष्करण को उचित ठहराने के लिए की गई है। इस प्रकार फ्रांस इस पर बहुत बहस नहीं करता कि अल्पसंख्यक अधिकार अनावश्यक, अथवा अवांछित हैं, बल्कि उसके अनुसार वे असंवैधानिक हैं। फ्रांस का संस्कृति एवं संचार मंत्रालय फ्रांस में 14 विशिष्ट अल्पसंख्यक भाषाओं और दो अल्पसंख्यक भाषा समूहों तथा फ्रांस के विदेशी भूभागों में 47 अल्पसंख्यक भाषाओं को मान्यता देता है।

फ्रांसीसी क्रांति का एक अति महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ : प्रांतीय परंपराएँ धीरे-धीरे टूट गईं, और स्थानीय भाषाओं तथा संस्कृतियों पर प्रतिबंध लग गया। इसने सन् 1789 की मानव एवं नागरिक अधिकार घोषणा को अपनाया, जिसमें कानून के समक्ष सभी की समानता को मान्यता दी गई है। इसमें फ्रांस के सभी अनुवर्ती संविधानों में नागरिक अधिकारों के आधार को स्थान दिया गया है। संविधान में धर्म की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई है। इसकी धर्मनिरपेक्षवाद की परंपरा के अनुरूप, किसी व्यक्ति की नृजातीयता अथवा धार्मिक आस्थाओं की जानकारी के संग्रह पर सन् 1872 से प्रतिबंध लगा दिया गया है

फ्रांसीसी क्रांति का एक अति महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ : प्रांतीय परंपराएँ धीरे-धीरे टूट गईं, और स्थानीय भाषाओं तथा संस्कृतियों पर प्रतिबंध लग गया। इसने सन् 1789 की मानव एवं नागरिक अधिकार घोषणा को अपनाया, जिसमें कानून के समक्ष सभी की समानता को मान्यता दी गई है। इसमें फ्रांस के सभी अनुवर्ती संविधानों में नागरिक अधिकारों के आधार को स्थान दिया गया है। संविधान में धर्म की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई है। इसकी धर्मनिरपेक्षवाद की परंपरा के अनुरूप, किसी व्यक्ति की नृजातीयता अथवा धार्मिक आस्थाओं की जानकारी के संग्रह पर सन् 1872 से प्रतिबंध लगा दिया गया है। इसलिए, फ्रांस के नृजातीय अथवा धार्मिक अल्पसंख्यकों के संघटन का कोई औपचारिक विवरण उपलब्ध नहीं है।

स्पेन

स्पेन के संविधान में फ्रेमवर्क कन्वेन्शन की परिभाषा में श्राष्ट्रीय अल्पसंख्यकश के मत को कोई औपचारिक मान्यता नहीं दी गई है, इसके बावजूद स्पेन में फ्रेमवर्क कन्वेंशन टु स्पैनिश सिटिजेंस ऑफ दि रोमा कम्युनिटी के प्रावधान अभी भी प्रभावी हैं, जिसके अनुच्छेद 14 में स्पेन के सभी नागरिकों को समानता सुनिश्चित की गई है। मौजूदा भेदभाव-विरोधी प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 14 में[18], और नियम 62/2003 के 27 से 43 तक के अनुच्छेदों में निहित हैं, जिसमें ईयू के समानता के निर्देशक तत्व 2003/43 तथा 2000/78 को शामिल करने के साथ-साथ मौजूदा 50 से अधिक कानूनों में संशोधन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 14 और न्यायाधिकरण की संविधि के अनुसार सभी निजी एवं सामाजिक परिस्थितियों और स्थितियों पर आधारित भेदभाव वर्जित है। किंतु संविधान और अन्य कानूनी प्रावधानों में भाषा, नागरिकता और राष्ट्रीय अथवा जातीय स्रोत के आधारों का कोई उल्लेख नहीं है।

राज्य प्राधकारियों के अनुसार, कानूनी बाधाएँ जातीय संबंधन की समस्याओं को स्पेन की जनगणना में शामिल किए जाने से रोकती हैं, हालांकि स्पेन के लोकपाल कार्यालय में इस व्याख्या पर विवाद है। इसलिए, राष्ट्रीय सांख्यिकीय संस्थान रोमा आबादी से जुड़े विवरण का विखंडन नहीं करता और न ही जातीय संबंधन की किसी समस्या को आगामी जनगणना में शामिल करना चाहता है।

स्पेन के संविधान के अनुच्छेद 46 के अनुसार, "लोक प्राधिकारियों का कानूनी शासन और स्वामित्व जो भी हो, वे स्पेन के लोगों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और कलात्मक विरासत की समृद्धि का संरक्षण सुनिश्चित करने के साथ-साथ उसका तथा उसकी परिसंपत्ति का संवर्धन करें [करेंगे]।" दंड संहिता के अनुच्छेद 314 में किसी नृजातीय समूह से संबंध के आधार पर सरकारी और निजी सेवा में भेदभाव वर्जित है।

बेल्जियम

यूरोप की परिषद के कुछ देशों में से एक, बेल्जियम ने फ्रेमवर्क कन्वेंशन फॉर दि प्रोटेक्शन ऑफ नेशनल माइनॉरिटीज तथा यूरोपियन चार्टर फॉर रीजनल ऑर माइनॉरिटीज लैंग्वेजेज को मंजूर नहीं किया

है। किंतु, बेल्जियम में अल्पसंख्यकों को उनकी विशिष्ट संघीय संरचना के चलते सुरक्षा दी जाती है। समानता और भेदभाव निरपेक्ष का सिद्धांत (बेल्जियन संविधान, अनुच्छेद 10-11) लोकतांत्रिक राज्य के विभिन्न आधारों में से एक है और निजी संबंधों पर भी लागू है। बेल्जियन संविधान के अनुच्छेद 10 के अनुसार : "राज्य में वर्ग भेद का कोई अस्तित्व नहीं है। बेल्जियम के लोग कानून के समक्ष समान हैं : ...महिलाओं एवं पुरुषों के बीच समानता सुनिश्चित है।"[19]

बेल्जियम तीन क्षेत्रों (फ्लैंडर्स, वालोनिया, और ब्रसेल्स) और तीन भाषायी समुदायों (बेल्जियमी, फ्रांसीसी, और जर्मन) वाला एक संघीय राज्य है। यह संघीय राज्य विदेशी मामलों, राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय, वित्त, सामाजिक सुरक्षा, और जन स्वास्थ्य से जुड़े कुछ मुद्दों के प्रति उत्तरदायी है; आप्रवासन भी संघ का एक दायित्व है। संघीय स्तर पर, मुख्यत: आप्रवासियों के समेकन से संबद्ध कई मामलों का दायित्व क्षेत्रों और समुदायों के हाथों में होता है, इसलिए कोई बेल्जियन 'समेकन का प्ररूप' नहीं है। फिर भी, संघीय स्तर पर, सरकार ने वर्ष 2003 में एक नीतिगत अनुबंध जारी किया, जिसमें सरकार को आप्रवासियों के अभिग्रहण, नवागंतुकों की स्वायत्तता के समर्थन, और कार्यालय में भेदभाव को दूर करने के लक्ष्य के साथ 'साझा नागिरिकता' का पता लगाने का वचन दिया गया।

बेल्जियम की संसद ने सन् 1998 में एक आदेश जारी किया, जिसमें नृजातीय अल्पसंख्यकों के संदर्भ में एक त्रिधारीय नीति का निर्धारण किया गया; इसमें दासता से मुक्ति की नीति शामिल है, जिसमें लक्ष्य समूहों के समेकन, एक अभिग्रहण नीति, और एक सहायता नीति पर बल दिया गया है। बेल्जियम सरकार ने सांस्कृतिक विविध ता को समर्थन और बढ़ावा देने के लिए एक अंतर-सांस्कृतिक नीति कार्यक्रम भी तैयार किया है। सन् 2004 से, 'अनेकता में सहजीवन' बेल्जियम सरकार की एक प्राथमिकता रही है।

वालोनिया का फ्रांस के गणतांत्रिक प्रारूप की ओर झुकाव बढ़ा है। वालोनिया ने एक अंतर-सांस्कृतिक नीति अपनाई है। वहीं, सन् 2005 में ब्रसेल्स ने बेल्जियन डाइवर्सिटी चार्टर की स्थापना समेत विभिन्न पद्धतियों से तत्वों को अपनाने का प्रयास किया है।[20]

ऑस्ट्रेलिया

ऑस्ट्रेलिया ने अल्पसंख्यक अधिकारों के संरक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। ऑस्ट्रेलिया में अल्पसंख्यक अधिकारों की सुरक्षा का कोई कानून नहीं है। हालाँकि मानव अधिकार कानून कुछ व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है, किंतु इसमें अल्पसंख्यक समूहों की सुरक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। यद्यपि ऑस्ट्रेलिया में देशविधि व्यक्तिगत अथवा अल्पसंख्यक अधिकारों को कुछ संरक्षण देती है, किंतु यहाँ अल्पसंख्यक स्वतंत्रताओं को "उच्छिष्ट माना जाता रहा है और उन्हें परोक्ष रूप से सुरक्षा दी गई है।" ऑस्ट्रेलिया के संविधान अधिनियम[21] की उपधारा 9 में चार विशिष्ट व्यक्तिगत अधिकारों का प्रावधान है : धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार[22], राज्यों में निवासियों के अधिकार[23], संपत्ति के राष्ट्रमंडल अधिग्रहण हेतु उचित निबंधन के भुगतान का अधिकार[24], और निर्णायक समिति की सुनवाई का अधिकार[25]। इस प्रकार, इसमें सामान्य अधिकारों और स्वतंत्रताओं का कोई स्पष्ट संदर्भ नहीं है और, इसलिए यह अल्पसंख्यक अधिकारों के प्रति मौन है।

सन् 1901 में 'ह्वाइट ऑस्ट्रेलिया पॉलिसी' ने वस्तुत: एशिया से आप्रवासन को आधी शताब्दी तक के लिए समाप्त कर दिया। किंतु, सन् 1970 के मध्य तक, समंजन नीति के तहत एक बहुसांस्कृतिक नीति को मान्यता दी जाने लगी। इस नीति में सभी ऑस्ट्रेलिया वासियों को अपनी सांस्कृतिक विरासत का पालन करने का अधिकार था, जिसमें भाषा और धर्म शामिल थे। ऑस्ट्रेलिया कतिपय अंतरराष्ट्रीय संधियों का भागीदार है। सन् 2013 में ऑस्ट्रेलिया सरकार ने आदिवासी एवं टॉरेस स्ट्रेट द्वीपवासी समुदायों को ऑस्ट्रेलिया के पहले आबादकार के रूप में मान्यता देने का कानून पास किया। यह एबऑरिजिनल एंड टॉरेस स्ट्रेट आईलैंडर पीपल्स रिकॉग्निशन ऐक्ट, 2013, ऑस्ट्रेलिया में स्थानीय लोगों की स्थिति को आधिकारिक मान्यता देने वाला पहला कानून है और अनधिकृत प्रदेश (टेरा नलियस) के सिद्धांत का वैधानिक शब्दों में खुलकर खंडन करता है, जिस पर ऑस्ट्रेलिया की स्थापना हुई थी।

उपसंहार

प्रस्तुत परिचर्चा में एक सजातीय और एकीकृत आबादी की पश्चिमी/यूरोपीय आकांक्षा और व्यवहार में इस आकांक्षा की पूर्ति के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के बीच संघर्ष की व्याख्या की गई है। दो विध्वंसकारी विश्व युद्धों के बाद, अल्पसंख्यक अधिकारों को मान्यता के साथ यूरोपीय देशों में सजातीय एकता की आकांक्षा क्षीण पड़ गई है। यूरोप के ज्यादातर देशों में संविधान के प्रावधानों में एकीकृत आबादी की आकांक्षा के हानिकारक प्रभावों को सीमित करने का एक प्रयास दिखाई देता है, और वस्तुत: वे धार्मिक सहअस्तित्व के सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस आलेख में जिन यूरोपीय देशों पर विचार किया गया है, उन सभी ने उनके अपने इतिहास, सांस्कृतिक परंपरा, और संवैधानिक विकास के अनुरूप अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक की नीतियाँ अपना ली हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि ये नीतियाँ और प्रक्रियाएँ महत्वपूर्ण क्यों हैं; क्योंकि राज्य के गठन

ऑस्ट्रेलिया ने अल्पसंख्यक अधिकारों के संरक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। ऑस्ट्रेलिया में अल्पसंख्यक अधिकारों की सुरक्षा का कोई कानून नहीं है। हालाँकि मानव अधिकार कानून कुछ व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है, किंतु इसमें अल्पसंख्यक समूहों की सुरक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। यद्यपि ऑस्ट्रेलिया में देशविधि व्यक्तिगत अथवा अल्पसंख्यक अधिकारों को कुछ संरक्षण देती है, किंतु यहाँ अल्पसंख्यक स्वतंत्रताओं को उच्छिष्ट माना जाता रहा है और उन्हें परोक्ष रूप से सुरक्षा दी गई है।

और राष्ट्रीय अस्मिता के सृजन में इनकी एक महती भूमिका है। किसी एक संवैधानिक प्रक्रिया अथवा राजनैतिक सिद्धांत या फिर राष्ट्रीय अभिवृत्ति को सार्वभौम रूप में नहीं देखा जा सकता।

ज्यादातर पश्चिमी विद्वानों का मुख्य ध्यान राष्ट्रीयता, विशेष रूप से जातीय राष्ट्रीयता पर रहा है। किंतु वेस्टफीलिया की संधि के बहुत पहले राज्य-निर्माताओं ने कौन क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर है और कौन बाहर, इसकी व्याख्या करने वाली पद्धतियाँ लागू कीं। हमें समझना चाहिए कि राज्य का गठन सहज रूप से सांस्कृतिक प्रक्रिया है, एक पहलू जिसकी राष्ट्र-राज्य गठन के अन्य सिद्धांतों में अनदेखी की गई। इसलिए संस्कृति को महज आर्थिक अथवा तर्कसंगत हितों के एक उपकरण के रूप में देखना स्वाभाविक रूप से समस्यात्मक है।

समकालीन भारत में, जिस मानदंड पर राष्ट्रीय अस्मिता का सृजन होना चाहिए, वह पूर्णत: शक्तिशाली हो चला है। भारत के मामले में यह अनुचित मत एक संकट है कि अल्पसंख्यक एक अनम्य अवधारणा है। सभी लोकतांत्रिक देशों में, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की कोटियाँ निर्धारित नहीं हैं, क्योंकि राजनैतिक कारक इन अस्मिताओं को अस्थिर कर देते हैं। इस अर्थ में देखें तो, लोकतांत्रिक राजनीति इस बात की पुनर्परिभाषा करने की अपरिमित संभावनाएँ प्रदान करती है कि कौन किसी बहुसंख्यक समूह से संबद्ध है और किसका किसी अल्पसंख्यक से संबंध है।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों की मुख्य धारा के सिद्धांत इतने पुष्ट नहीं हैं कि राष्ट्रीय अस्मिताओं और हितों के सृजन के तथ्य की व्याख्या कर सकें। इसलिए भारत के संदर्भ में संस्कृति और प्रतीकवाद की भूमिका का विश्लेषण जरूरी है। यदि भारत को एक संसक्त राष्ट्रीय अस्मिता का सृजन करना है, तो राज्य के गठन और राजनैतिक औचित्य के इस सांस्कृतिक आयाम को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

संदर्भ

1. जेनिफर जैक्सन प्रीस, 'माइनॉरिटी राइट्स इन यूरप : फ्रॉम वेस्टफीलिया टु हेलसिंकी,' रिव्यू ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज खंड 23, अंक 1 (जन., 1997), पृ. 75-92।
2. हीदर रे, स्टेट आइडेंटिटीज एंड दि होमोजनाइजेशन ऑफ पीपल्स, कैंब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 2003, पृ. 216।
3. वही।
4. आर. बी. जे. वॉकर, इनसाइड/आउटसाइड : इंटरनेशनल रिलेशन ऐज पॉलिटिकल थिअरी, कैंब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1993।
5. जेनिफर जैक्सन प्रीस, 'माइनॉरिटी राइट्स इन यूरप : फ्रॉम वेस्टफेलिया टु हेलसिंकी,' रिव्यू ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज खंड 23, अंक 1 (जन., 1997), पृ. 75-92।
6. बालाज्स विजी, माइनॉरिटी राइट्स इन दि 'न्यू' ईयू मेंबर स्टेट्स आफ्टर इन्लार्जमेंट, हान्स स्वोबोडा एवं जैन मारिनस वीर्स्मा (सं), डेमोक्रेसी, पॉप्युलिज्म एंड माइनॉरिटी राइट्स, यूरोपियन संसद का समाजवादी समूह, 2009।
7. यूरोपियन कन्वेंशन ऑन ह्यूमन राइट्स, https://www.echr.coe.int/documents/convention_eng.pdf
8. पैंफलेट नं. 7, माइनॉरिटी राइट्स अंडर दि यूरोपियन कन्वेंशन ऑन ह्यूमन राइट्स, https://www.echr.coe.int/documents/convention_eng.pdf
9. यूरोपियन कन्वेंशन ऑन ह्यूमन राइट्स, https://www.echr.coe.int/documents/convention_eng.pdf
10. चार्टर ऑफ फंडामेंटल राइट्स ऑफ दि यूरोपियन यूनियन (2000/सी 364/01), ऑफिशल जर्नल ऑफ दि यूरोपियन कम्युनिटीज, 18-12-2000, https://www.europarl.europa.eu/charter/pdf/text_en.pdf
11. बेसिक लॉ फॉर दि फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, https://www.gesetze-im-internet.de/englisch_gg/englisch_gg.html#p0019
12. नेशनल माइनॉरिटीज, फेडरल मिनिस्ट्री ऑफ दि इंटीरियर एंड कम्युनिटी, https://www.bmi.bund.de/EN/topics/community-and-integration/national-minorities/national-minorities-node.html
13. लीगल फ्रेमवर्क स्पेसिफिक माइनॉरिटी लेजिस्लेशन एंड मेजर्स, https://www.minderheitensekretariat.de/en/legal-framework/specific-minority -legislation- and-measures
14. लीगल फ्रेमवर्क, https://www.minderheitensekretariat.de/en/legal-framework/german-basic-law-grundgesetz
15. सीसीपीआर/सी/22/ऐड.2, पैट्रिक थॉर्नबेरी में उद्धृत, इंटरनेशनल लॉ एंड दि राइट्स ऑफ माइनॉरिटीज 245 (1991)।
16. गाइतानो पेंतास्सुग्लिया, ऑन दि मॉडेल्स ऑफ माइनॉरिटी राइट्स सुपररविजन इन यूरोप एंड हाउ दे एफेक्ट ए चेंजिंग कॉन्सेप्ट ऑफ सॉवरेंटी, यूरोपियन ईयरबुक ऑन मिनिस्ट्री इस्यूज, 2001-2, पृ. 29-64
17. डिक्लेरेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ मैन एंड ऑफ दि सिटिजेन, एप्रूव्ड बाइ दि नेशनल एसेंबली ऑफ फ्रांस, अगस्त 26, 1789।
18. स्पेन के संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार: "स्पेनवासी कानून के समक्ष समान हैं और जन्म, नस्ल, लिंग, धर्म, मत अथवा किसी भी अन्य निजी या सामाजिक स्थिति अथवा परिस्थिति के आधार पर उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता।"
19. अंतिम वाक्य 21 दिसंबर, 2002 के संविधान संशोधन के अनुरूप शामिल किया गया।
20. https://ec.europa.eu/info/policies/justice-and-fundamental-rights/combatting-discrimination/tackling-discrimination/diversity-management/diversity-charters-eu-country/belgian-diversity-charter_en
21. कॉमनवेल्थ ऑफ ऑस्ट्रेलिया कॉन्स्टिट्यूशन ऐक्ट
22. https://www.aph.gov.au/About_Parliament/Senate/Powers_practice_n_procedures/Constitution/chapter5
23. https://www.aph.gov.au/About_Parliament/Senate/Powers_practice_n_procedures/Constitution/chapter5
24. https://www.aph.gov.au/About_Parliament/Senate/Powers_practice_n_procedures/Constitution/chapter1 / Part_V_- _Powers_of_the_Parliament
25. https://www.aph.gov.au/About_Parliament/Senate/Powers_practice_n_procedures/Constitution/chapter3#chapter-03_80

डॉ. फैयाज अहमद फैजी

अल्पसंख्यक अवधारणा और देशज मुसलमान

भारत में अल्पसंख्यक का पर्याय हो गया है मुसलमान। दुर्भाग्य यह है कि अल्पसंख्यकों के नाम पर आने वाली सभी सुविधाएँ सिर्फ एक छोटे से तबके तक सीमित हो जा रही हैं और बहुत बड़ा तबका आज भी वंचित है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक विश्लेषण

'अल्पसंख्यक' एक ऐसा शब्द है जो भारतीय राजनीति में सदैव चर्चा में बना रहता है। भारत में बसने वाले अल्पसंख्यक वर्ग में विशेष रूप से पाँच धार्मिक समुदायों को सम्मिलित किया गया है। इनमें मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध और जरथुस्ट्र या पारसी शामिल हैं। बाद में इसमें जैन धर्म के मानने वालों को भी शामिल कर लिया गया।[1]

अल्पसंख्यक समुदायों में सबसे बड़ी जनसंख्या वाला धार्मिक समूह मुसलमानों का है।[2] अगर व्यवहारिक रूप से देखा जाए तो हमारे देश में अल्पसंख्यक शब्द का तात्पर्य मुसलमानों से ही लिया जाता रहा है। अन्य धर्मों के अनुयायियों की चर्चा या तो यदा कदा होती है या बिल्कुल ही नहीं होती है। मुख्यधारा में अल्पसंख्यक विमर्श का अर्थ मुस्लिम विमर्श ही माना जाता रहा है और मुस्लिम से तात्पर्य बाहर से आया शासकवर्गीय अशराफ मुसलमान से लिया जाता रहा है। एक अनुमान के मुताबिक भारतीय मूल के देशज मुसलमानों की संख्या कुल मुस्लिम जनसंख्या का लगभग 90 प्रतिशत है। फिर भी ये मुख्यधारा में कहीं नहीं दिखते, चाहे वह सरकार की अल्पसंख्यक संस्थाएँ हों या अशराफ मुसलमानों द्वारा चलाई जा रही संस्थाएँ हों। हालाँकि उत्तर प्रदेश सरकार ने अल्पसंख्यक से संबंधित संस्थाओं में देशज पसमांदा मुसलमानों की नियुक्ति कर इस मामले में एक सार्थक पहल का प्रयास जरूर किया है।

कला कालेलकर समिति, मंडल आयोग, रंगनाथ मिश्र कमीशन से लेकर सच्चर कमेटी तक की रिपोर्टों से यह बात सामने आ चुकी है कि मुस्लिम समाज कोई एक समरूप समाज नहीं है। यहाँ भी उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग का नस्लीय एवं जातिगत विभेद विद्यमान है। विवरण इस प्रकार है:

i. अशराफ, शरीफ शब्द का बहुवचन है जिसका अर्थ उच्च या सभ्य होता है। इसका एक बहुवचन शोरफा भी होता है। इसमें विदेशी नस्ल के मुस्लिम शामिल हैं जैसे सैयद, शेख, मुगल, पठान और मिर्जा आदि। इसमें हिन्दू सवर्ण जातियों से धर्मांतरित जातियाँ भी सम्मिलित हैं।[3]

ii. अजलाफ, जलफ शब्द का बहुवचन है जिसका अर्थ असभ्य होता है। इसमें अधिकतर व्यावसायिक जातियाँ आती हैं जैसे दर्जी, रंगरेज, नाई, तेली, हलवाई, कुम्हार, बुनकर, धुनकर, सब्जी बेचने वाले कुंजडा (राईन), शिकालगर, कसाई, आतिशबाज, जोगी तथा मदारी आदि।

iii. अरजाल रजिल शब्द का बहुवचन है, जिसका अर्थ नीच या निम्न होता है। इसमें अधिकतर अछूत और स्वच्छकार जातियाँ आती हैं जैसे मेहतर, लाल बेगी, पत्थरफोड, हेला, नट, धोबी तथा बंजारा आदि।[4]

इसी संदर्भ में डॉ. भीम राव अम्बेडकर लिखते हैं: "मुस्लिमों में जाति प्रथा ही नहीं, छुआछूत भी प्रचलित है। कुछ स्थानों पर एक तीसरा वर्ग 'अरजल' भी है, जिसमें आने वाले व्यक्ति सबसे नीच समझे जाते हैं। उनके साथ कोई भी अन्य मुसलमान ना ही मिलेगा-जुलेगा और ना उन्हें मस्जिद और सार्वजनिक कब्रिस्तानों में प्रवेश करने दिया जाता है।[5] उपर्युक्त दोनों अजलाफ और अरजाल वर्ग को सम्मिलित रूप से आजकल देशज या पसमांदा कहा जाने लगा है।

मंडल आयोग ने तो बकायदा देशज मुसलमानों की बहुत सी जातियों को अन्य पिछड़ा वर्ग के आरक्षण में शामिल भी किया है। इस प्रकार देशज

मुसलमान अन्य पिछड़ा वर्ग और अनुसूचित जनजाति के अंतर्गत आरक्षण का लाभ प्राप्त कर रहा है। सामाजिक न्याय का ऐसा उदाहरण शायद ही किसी मुस्लिम देश या भारत में भी मुस्लिमों द्वारा संचालित किसी संस्था में देखने को मिलेगा। लेकिन मुस्लिम समाज को नेतृत्व करने वाला शासकवर्गीय अशराफ वर्ग, आज भी मुस्लिम समाज में व्याप्त नस्लवाद/जातिवाद को नकारते हुए मुस्लिम समाज में सामाजिक न्याय के प्रश्न को दबाता रहा है। वहीँ दूसरी ओर ये ही लोग हिंदू समाज में सामाजिक न्याय के प्रश्न पर लगातार मुखर रहते हैं।

देशज मुसलमानों और उनके संगठनों ने आसिम बिहारी के संगठन जमीयतुल मोमिनीन (मोमिन कॉन्फ्रेंस) के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत का प्रबल विरोध किया था। ऐतिहासिक तथ्यों से इसकी पुष्टि होती है।

जमियातुल मोमिनीन (मोमिन कॉन्फ्रेंस) और उसकी साप्ताहिक पत्रिका 'मोमिन गैजेट' द्वारा मुस्लिम लीग के विरोध की तीक्ष्णता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पत्रिका के संपादक मौलाना अबु उमर भागलपुरी ने अपने संपादकीय (1937 ई०) में मुस्लिम लीग को निम्नलिखित अंदाज में परिभाषित किया:

लीग एक ऐसा बलिगृह (कुर्बान गाह) है, जहाँ हवस और स्वार्थ पर गरीबों की बलि दी जाती है।
लीग संगे तराजू है, जो सौदे के वक्त किसी पलड़े पर झुक पड़ेगी।
लीग एक सियासी डिक्शनरी है जिसमें हर किस्म के कमजोर शब्दों का भंडार है।
लीग एक कवि है, जो आकाओं की प्रशंसा में सुंदर प्रसंशा गीत गा सकता है।
लीग पूँजीवादी और उच्च वर्ग का स्टेज है, जहाँ स्वार्थ और नफ्सपरस्ती पर बहस होती है।
लीग संपन्न वर्ग और राजतंत्र का अनुमोदक है,
जिनकी एकता से देश की गुलामी में तरक्की होती है।
लीग एक ऐसी अभिनेत्री है,
जो अनुभवहीन दर्शकों के दिलों को अपनी तरफ खींच सकती है।
लीग आजादी और गुलामी का माजून है,
जो पूँजीपतियों के दिलों को ताकत पहुँचाकर हवस और स्वार्थ की भूख पैदा कर सकती है।[6]

जब 30 मार्च 1940 को लाहौर में हुए अपने अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के प्रस्ताव को पारित कर दिया तो इसके विरोध में सबसे संगठित, तार्किक सधी और गरजदार आवाज मोमिन नौजवान कॉन्फ्रेंस (मोमिन कॉन्फ्रेंस की नवयुवक शाखा) ने 19 अप्रैल 1940 को पटना में हुए अपने अधिवेशन में उठाई। उसके बाद के विभिन्न अधिवेशनों में भी मोमिन कॉन्फ्रेंस आखिरी साँस तक भारत के बटवारे के विरोध में मजबूती से आवाज उठाती रही।[7]

मुस्लिम लीग के उपाध्यक्ष रजा अली ने कांग्रेस द्वारा पिछड़े वर्ग के लिए भर्ती आरक्षण की नीति की आलोचना करते हुए मजाक उड़ाया कि, "वह सरकार कितनी महान् और शक्तिशाली होगी जिसके फील्ड मार्शल, जनरल और कर्नल नट, कुंजड़ा, हलखोर और डोम होंगे।"

जिसके विरोध में जमीयतुल राईन (राईन कॉन्फ्रेंस) के अब्दुस-समद ने असर-ए-जदीद (आधुनिक काल) के संपादक को जिसमें यह रिपोर्ट छपी थी प्रत्युत्तर में लिखा कि यह मुस्लिम लीग की उस मानसिकता का सूचक है जिसमें वह पसमांदा को उस विशेषाधिकार से वंचित करना चाहती है, जिसका लाभ वह स्वयं उठा रही है।[8]

1946 का चुनाव, जिसे मुस्लिम लीग के पक्ष में एक जनमत संग्रह माना गया, उस इलेक्शन में लगभग सभी पसमांदा संगठनों ने आसिम बिहारी के नेतृत्व वाली जमीयतुल मोमिनीन (मोमिन कॉन्फ्रेंस) को पूरा समर्थन

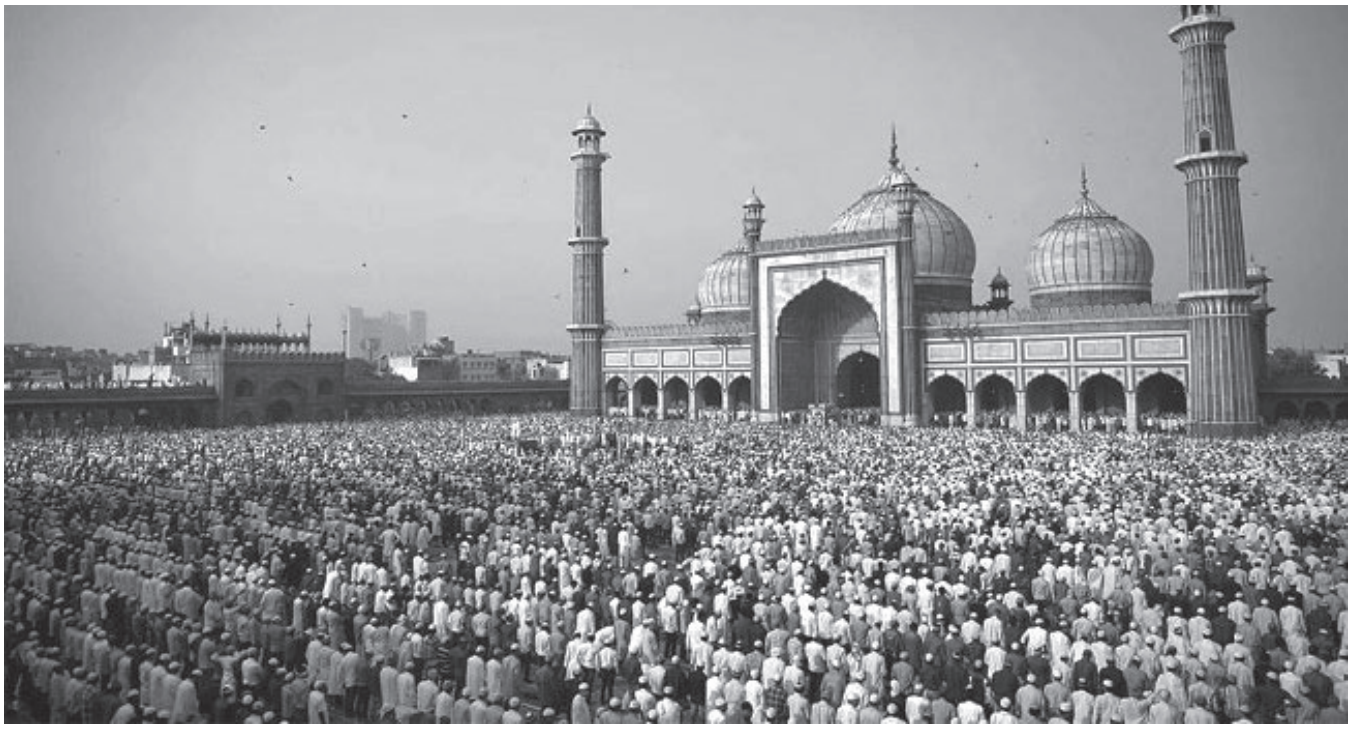

दिया और इसने मुस्लिम लीग के विरुद्ध कई सीटें जीतीं। तब वोट देने का अधिकार आज की तरह न होकर, शिक्षा और आर्थिक संपन्नता के आधार पर था। स्पष्ट है कि वंचित देशज पसमांदा मुसलमानों के पास अशराफ वर्ग की तरह शिक्षा और आर्थिक संपन्नता नहीं थी। बिहार में वोट देने के लिए कम से कम मैट्रिक पास होने की शर्त थी। यहाँ पृथक निर्वाचन के तहत कुल 40 सीटें थीं। इनमें मुस्लिम लीग ने 33 सीटों पर कब्जा कर लिया, लेकिन मोमिन कॉन्फ्रेंस ने 20 सीटों पर अपने प्रत्याशी उतारे। इनमें से उसने 6 सीटें जीतीं और एक सीट कांग्रेस के खाते में आई। इस सीट पर मोमिन कॉन्फ्रेंस ने कांग्रेस के समर्थन में अपना प्रत्याशी नहीं लड़ाया था। ज्ञात रहे कि इस चुनाव में देश के विभाजन का विरोध कर रहे अशराफ मुसलमानों द्वारा संचालित मुस्लिम लीग के अलावा अन्य सभी पार्टियों[9] का सूपड़ा साफ हो गया और यह स्पष्ट हो गया कि लगभग पूरा अशराफ वर्ग भारत विभाजन और पाकिस्तान के समर्थन में आ गया था।[10]

भारत के मुस्लिम समाज में बाहर से आए हुए शासकवर्गीय अशराफ मुसलमान और धर्मांतरित देशज पसमांदा मुसलमान के बीच अंतर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इनके बीच भाषा, वेश-भूषा, सभ्यता एवं संस्कृति के आधार पर स्पष्ट विभेद दिखाई देता है। अशराफ समाज शासकवर्गीय होने के कारण प्रबल और प्रभावी समाज रहा है। वहीं दूसरी ओर देशज पसमांदा समाज अब भी वंचित और अप्रभावी स्थिति में ही है। देश ने अशराफ मुसलमानों के प्रबल प्रभाव का कटु एवं बुरा अनुभव भारत विभाजन के रूप में किया है।

भारतीय संविधान में "अल्पसंख्यक" शब्द की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं बताई गई है।[11] फिर भी कांस्टीट्यूशन असेंबली डिबेट में यह तय हुआ था कि अल्पसंख्यक समुदायों, वंचित पिछड़ा वर्ग और देश के जनजातीय क्षेत्रों के लिए एक संरक्षण तंत्र को अपनाया जाएगा।[12] जबकि संयुक्त राष्ट्र की परिभाषानुसार वो समुदाय अल्पसंख्यक है, जिस समुदाय के सदस्य संस्कृति, धर्म या भाषा या इनमें से किसी के संयोजन की सामान्य विशेषताओं को साझा करते हों और सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक आधार पर अप्रभावी एवं संख्या में कम हों।[13]

अगर संयुक्त राष्ट्र की उक्त परिभाषा की कसौटी पर मुस्लिम समाज को परखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि शासकवर्गीय अशराफ वर्ग और देशज पसमांदा वर्ग में पूर्णरूपेण सांस्कृतिक साम्यता है ही नहीं। जहाँ एक ओर अशराफ वर्ग अपनी अरबी, ईरानी या तुर्की संस्कृति का पालन करता है, वहीं पसमांदा वर्ग भारत के विविध क्षेत्रों की सभ्यता-संस्कृति में रचा बसा है। दूसरी बात प्रभाव की दृष्टि से देखा जाए तो शासकवर्गीय अशराफ प्रबल और प्रभावी समाज रहा है, जबकि पसमांदा वर्ग वंचित और प्रभावहीन समाज है। अगर इस परिभाषा को आधार बनाया जाए तो अशराफ वर्ग पूरी तरह से अल्पसंख्यक की अवधारणा में फिट ही नहीं होता है।

अतएव भारत के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समाज को एक इकाई मानकर, भारत में बसने वाले सारे मुसलमानों की समस्याओं को समझना और उनके निराकरण पर चर्चा करना, बेमानी जान पड़ता है। अब तक के अनुभव से यह बात साफ तौर पर प्रतीत होती है कि अल्पसंख्यक के नाम पर लगभग सभी प्रकार के लाभ और सुविधाएँ प्रबल एवं प्रभावी अशराफ समाज तक ही सीमित रह जाती हैं। ये सुविधाएँ अन्य अल्पसंख्यक समुदायों एवं देशज पसमांदा तक जैसे पहुँचनी चाहिए वैसे पहुँच नहीं पाती हैं और शायद यही एक बड़ा कारण है कि अशराफ वर्ग के बुद्धिजीवी और राजनैतिक नेतागण अल्पसंख्यक का पर्याय 'मुसलमान' ही बनाए रखने में सदैव प्रयासरत रहते हैं। वे सदैव मुस्लिम समाज को एक समरूप समाज बना कर प्रस्तुत करते आ रहें हैं। इस देश में मुस्लिम विमर्श की राजनीति में अन्य अल्पसंख्यक समुदायों और मुस्लिम समाज के वंचित तबके यानी देशज पसमांदा मुस्लिमों के हक की बात बहस के केंद्र में आ ही नहीं पाती है। अतः सरकार की लोक-कल्याणकारी योजनाएँ पूरी तरह से असल हकदार तक पहुँच ही नहीं पाती हैं।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के नए 15 सूत्री कार्यक्रम का एक उद्देश्य यह भी है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि विभिन्न सरकारी योजनाओं का लाभ अल्पसंख्यक समुदायों के वंचित वर्गों तक भी पहुँचे।[14]

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक और उचित जान पड़ता है कि भारत के सबसे बड़े अल्पसंख्यक समाज और अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के वंचित तबके की पहचान कर उनके अधिकार एवं सुरक्षा की बात को बहस के केंद्र में लाया जाए। अल्पसंख्यक समुदाय के लिए जनकल्याण ाकारी योजनाओं और सुविधाओं का लाभ उनके वंचितों तक पहुँचे इसके लिए जैसे अन्य पिछड़ा वर्ग के आरक्षण में क्रीमी लेयर का प्रावधान है, ठीक उसी तरह का कुछ प्रावधान मुस्लिम समेत सभी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए किया जाना न्यायोचित प्रतीत होता है। ताकि असल जरूरतमंद तक सरकार की लोक-कल्याणकारी योजनाओं का लाभ पहुँच सके और उनकी उपस्थिति भी मुख्य धारा में हो सके।

अगर देखा जाए तो अल्पसंख्यक अधिकारों में प्रमुख रूप से सुरक्षा और शासन प्रशासन में भागीदारी के अधिकार ही आते हैं। जहाँ तक सुरक्षा का प्रश्न है तो धार्मिक दंगे-फसाद, मॉब लिंचिंग जैसी घटनाओं में अधिकतर देशज पसमांदा मुसलमानों के ही जान-माल की क्षति होती है। जहाँ तक शासन-प्रशासन में भागीदारी की बात है अशराफ वर्ग अपनी

अगर संयुक्त राष्ट्र की उक्त परिभाषा की कसौटी पर मुस्लिम समाज को परखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि शासकवर्गीय अशराफ वर्ग और देशज पसमांदा वर्ग में पूर्णरूपेण सांस्कृतिक साम्यता है ही नहीं। जहाँ एक ओर अशराफ वर्ग अपनी अरबी, ईरानी या तुर्की संस्कृति का पालन करता है, वहीं पसमांदा वर्ग भारत के विविध क्षेत्रों की सभ्यता-संस्कृति में रचा बसा है। दूसरी बात प्रभाव की दृष्टि से देखा जाए तो शासकवर्गीय अशराफ प्रबल और प्रभावी समाज रहा है, जबकि पसमांदा वर्ग वंचित और प्रभावहीन समाज है

संख्या के अनुपात में लगभग दुगने से भी अधिक भागीदार बना हुआ है और देशज पसमांदा वर्ग अपनी संख्या के अनुरूप बिलकुल ही न्यूनतम स्थिति में है। उदाहरणस्वरूप देखा जाए तो अगर पहली से लेकर 14वीं लोकसभा सदस्यों की संख्या देखेंगे तो पाएंगे कि अब तक चुने गए सभी 7500 प्रतिनिधियों में 400 मुसलमान थे और इन मुस्लिम प्रतिनिधियों में 340 अशराफ और केवल 60 पसमांदा तबके से थे।[15]

उपर्युक्त विवेचना से अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण एवं सुरक्षा के प्रश्न को समझने और उसके समाधान की तलाश के लिए वंचित समाज की पहचान करना अधिक उचित लगता है ताकि इस अभावग्रस्त समाज को सुरक्षित एवं संवर्धित रखते हुए उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ा जा सके।

सन्दर्भ

1. https://www.drishtiias.com/daily-updates/daily-news-analysis/world-minorities-rights-day access on 07.02.2022 https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=102623 access on 07.02.2022)
2. सच्चर कमेटी रिपोर्ट, पृष्ठ 25
3. वही, पृष्ठ 180,
4. मसूद आलम फलाही, हिंदुस्तान में जात पात और मुसलमान (उर्दू), पृष्ठ 175, थर्ड एडिशन 2020, अलकाजी पब्लिशर, आमिना अपार्टमेंट फोर्थ फ्लोर, शाहीन बाग जामिया नगर, नई दिल्ली-25, (ISBN: 9788194143611)
5. डॉ० भीम राव अंबेडकर, पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन, भाग 5, पृष्ठ 223, अध्याय 10, प्रकाशक डॉ० अंबेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली-110001, (ISBN:978-93-5109-079-3)
6. अहमद सज्जाद, बंदये मोमिन का हाथ (उर्दू), पृष्ठ 369, 2011, रिसर्च एंड पब्लिकेशन डिवीजन मरकज-ए-अदब-व-साइंस, रांची, (ISBN:978-93-81029-11-4)
7. वही, पृष्ठ 497
8. पापिया घोष, मोहाजिर ऐंड द नेशन बिहार इन द 1940ज, पृ. 104, 2018, राउटलेज इंडिया, (ISBN 9781138380349)
9. जमीयतुल उलेमा हिन्द, नेशनलिस्ट मुस्लिम, मुस्लिम पार्लियामेंट्री बोर्ड आदि
10. 1. पापिया घोष, मोहाजिर ऐंड द नेशन बिहार इन द 1940ज, पृ. 75-79, 2018, राउटलेज इंडिया, (ISBN 9781138380349)
    2. बंदये मोमिन का हाथ, अहमद सज्जाद, पृष्ठ 571, 2011, रिसर्च एंड पब्लिकेशन डिवीजन मरकज-ए-अदब-व-साइंस, रांची, (ISBN:978-93-81029-11-4)
11. (https://www.thehindubusinessline.com/news/constitution-does-not-define-the-word-minorities-govt/article64211705.eceaccess on 07.02.2022)
12. (https://blog.ipleaders.in/minority-rights-constitution-india/?amp=1 access on 07.02.2022)
13. (https://www.ohchr.org/en/issues/minorities/pages/internationallaw.aspx access on 07.02.2022)
14. (https://www.drishtiias.com/daily-updates/daily-news-analysis/prime-minister-s-15-point-programme access on 07.02.2022)
15. अशफाक हुसैन अंसारी, बेसिक प्रॉब्लम ऑफ ओबीसी मुस्लिम, पृ. 185, सेंटर ऑफ बैकवर्ड मुस्लिम ऑफ इंडिया, 306, वजीराबाद, गोरखपुर

आधुनिकता का तकाजा है समानता

रामधारी सिंह 'दिनकर'

यह आधुनिकता का तकाजा है कि वैवाहिक कानून आदि हिंदू-मुसलमानों के लिए समान होने चाहिए। मुस्लिमों की बहु-विवाह की कुरीति को भी अवश्य समाप्त किया जाना चाहिए। इस प्रकार का कोई कार्य नहीं होना चाहिए जिसमें किसी संप्रदाय के भय या तुष्टीकरण की भनक दिखाई देती हो।

आज हमारे जीवन में जातिवाद, प्रांतवाद, क्षेत्रीयता आदि जो संकीर्णताएँ व्याप्त हो गई हैं सबसे पहले राष्ट्रीय एकता के लिए उन्हें दूर करने की दिशा में ठोस कदम उठाना चाहिए। उसके बाद पंचमांगी तत्वों व बाह्य निष्ठा रखने वाले तत्वों का षड्यंत्र स्वयमेव असफल हो जाएगा। देश के प्रत्येक नागरिक के हृदय में पहले भारत की भावना जाग्रत की जानी चाहिए। जाति, धर्म, प्रांतीयता गौण हैं, मुख्य केवल भारत है, जिस भूमि पर हमने जन्म लिया है, जिसका अन्न खाकर व पानी पीकर हम पले हैं, वह भूमि पूज्य है तथा इसकी समृद्धि व सुरक्षा अपना कर्तव्य है, यह भावना पुनीत राष्ट्रीय भावना है।

पांचजन्य, 23 जनवरी 2022, पृष्ठ 61, शिवकुमार गोयल

डॉ. शाहिद अख्तर

राष्ट्रीय जन का अभिन्न अंग है मुसलमान

भारत की मिट्टी में इस्लाम का विकास राष्ट्र की मुख्यधारा के साथ-साथ हुआ है। इसे भारतीयता की मूल धारा से अलग समझना बड़ी भूल है। एक अनुशीलन

एक लोकप्रिय शे'र है ..
गर फिरदौस-ए-बर रुए जमीं अस्त
अमीं अस्त, अमीं अस्त आं अमीं अस्त

अर्थात धरती पर कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है, यहीं है और यहीं है। भारत की खूबसूरती, संपन्नता और शांति का बखान उपर्युक्त पंक्ति में दर्ज है। विश्व मानचित्र में 57 इस्लामिक देशों की उपस्थिति के बावजूद वैश्विक स्तर पर मुस्लिमों की तीसरी सबसे बड़ी आबादी भारत में है। कई मुस्लिम देशों में वैचारिक अंतर होने पर हिंसा-खून खराबा सामान्य बात है, वहीं भारत में मुस्लिम समाज के विभिन्न फिरकों के बीच सामाजिक ताना-बाना मजबूत है। सिर-फुटव्वल मारपीट और हिंसा की काली परछाई अब तक इन पर नहीं पड़ी है।

भारत में इस्लाम

भारत में इस्लाम का प्रवेश 711 ई. में मुहम्मद बिन कासिम के सिंध विजय से पहले समुद्री रास्ते से हो चुका था। हड़प्पा काल में भारत का व्यापारिक संबंध मेसोपोटामिया (आधुनिक इराक) के साथ था। जिसमें बहरीन और ओमान की भूमिका भी थी। दावा किया जाता है कि पैगंबर के जीवनकाल में ही कोडुंगलूर (केरल) में चेरामन जुमा मस्जिद (629 ई.) का निर्माण हो चुका था। मध्यकाल में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया। यह सिलसिला मोहम्मद गोरी (1206) से लेकर बाबर (1526) तक चलता रहा। औरंगजेब सरीखे कई मुस्लिम शासकों की धार्मिक नीति कट्टरता पर आधारित थी। वहीं सूफी-संतों ने सर्वधर्म सद्भाव की नीति अपनाई और इस्लाम के प्रचार-प्रसार में अहम भूमिका निभाई।

ऐसा नहीं है कि भारत पर इस्लाम के पूर्व आक्रमण नहीं हुए। शक, हूण, यवनों आदि ने भी कई आक्रमण किए, लेकिन उनके आक्रमणों और शासन के बावजूद भारतीय संस्कृति अडिग रही। बल्कि भारत की सनातन संस्कृति ने इन आक्रांताओं को भी उनकी सांस्कृतिक अस्मिता के साथ अपने अंदर समा लिया। हिंद-यूनानी शासक एंटिआल्किदस के यूनानी राजदूत हेलियोडेरस का गरुड़ध्वज स्तंभ लेख इसका प्रमाण है। हेलियोडोरस भागवत (वैष्णव) धर्म का अनुयायी हो गया तथा उसने स्वयं को वासुदेव (विष्णु) का अनन्य भक्त घोषित कर दिया। द्वितीय शताब्दी ई.पू. में भारत में वैष्णव धर्म के विकास की जानकारी का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य भी है। विदेशी आक्रमणकारी अपनी संस्कृति को भारत पर नहीं थोप सके।

भारतीय ज्ञान से जगमग अरब

इस्लाम धर्म का उदय अरब के रेगिस्तान में हुआ। अरब पश्चिम में लाल सागर, दक्षिण में अरब सागर तथा पूर्व में फारस की खाड़ी से घिरा है। शाम (सीरिया) की भाषा में मरुभूमि को अरबत् कहते हैं। इसी से अरब शब्द निकला है।[1] आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिंध जीता। तब अरबों ने अनेक भारतीय पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। इस तरह भारतीय गणित, ज्योतिष, नक्षत्र विद्या और चिकित्सा विज्ञान बगदाद पहुँचा। अरबों ने भारतीय संगीत शास्त्र एवं स्थापत्य कला से भी बहुत कुछ सीखा। डॉ. स्टैनले लेनपूल के अनुसार-सिंध विजय एक प्रभावरहित विजय थी। इतिहासकार स्मिथ भी इस मत से सहमत हैं। हेवल के मुताबिक-सिंध में अरब के शेखों ने भारत के ब्राह्मणों से कूटनीति की शिक्षा ग्रहण

की। प्रसिद्ध इतिहासकार वी.डी. महाजन के अनुसार- अरबों ने भारत से दशमलव पद्धति, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि की जानकारी प्राप्त कर उसका प्रसार किया।[2] अलबेरुनी के अनुसार-अरबों द्वारा प्रयुक्त संख्याओं के चिन्ह हिंदू चिन्हों के सर्वसुंदर उदाहरण हैं। हिंदसा (संख्या का अरबी नाम) का मूल स्थान भारत है। अल मंसूर के समय अरब विद्वान ब्रह्मगुप्त लिखित ग्रंथ 'ब्रह्म सिद्धांत' और 'खंड खंडवाक' अपने साथ ले गए और भारतीय विद्वानों की सहायता से उसका अरबी भाषा में अनुवाद किया।[3] खलीफा हारुन रशीद (786-808) ने हिंदू विद्वानों को बगदाद में बुलवाकर चिकित्सा, दर्शन और ज्योतिष विद्या की संस्कृत भाषा की पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया। यहाँ तक कि अपने चिकित्सालयों का निरीक्षण कार्य भी उन्होंने भारतीय वैद्यों को सौंपा।

हिंदुत्व का इस्लाम पर प्रभाव

जब दो धर्म परस्पर निकट आते हैं, तो एक-दूसरे के प्रभाव में आना स्वाभाविक है। इस्लाम ने हिंदुत्व पर जितना प्रभाव डाला है, उससे कहीं अधिक गंभीर परिवर्तन हिंदुत्व के कारण इस्लाम में हुए और हिंदुत्व आज भी आश्चर्यजनक आत्मविश्वास तथा पूर्ण संतोष के साथ अपने निश्चित मार्ग पर अबाधित चला जा रहा है।[4] गौरीशंकर भट्ट के अनुसार-भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिंदू प्रथाओं और मान्यताओं का आत्मसात किया। मुसलमानों ने हिंदुओं की परंपरागत मठ प्रणाली, गद्दी स्थापित करने की परंपरा को भी अपनाया। उन्होंने पीर और शेख को वंशानुगत महत्व देना शुरू कर दिया।[5] हिंदुओं के कुछ त्योहार भी मुसलमानों ने अपना लिए। मुसलमानों का शबे बरात त्योहार हिंदुओं के शिवरात्रि त्योहार की नकल है।[6] इतिहासकार डॉ. यूसुफ हुसैन ने भी लिखा - बहुत संभव है कि यह उत्सव हिंदुओं के शवरात्रि के उत्सव की नकल रही हो। आतिशबाजी दोनों में समान रूप से है। हिंदू धर्म का काफी प्रभाव इस्लाम के सूफी मत पर पड़ा है। सूफियों के प्रेममार्ग और कबीर की निर्गुण भक्ति में काफी समानता है। हिंदुओं की जाति प्रथा ने भी मुसलमानों का प्रभावित किया। जौनपुर की अताला मस्जिद हिंदू स्थापत्य कल का उत्कृष्ट नमूना है। मोरक्को निवासी यात्री इब्न बतूता के अनुसार मुसलमानों में पान खाने का रिवाज हिंदुओं से आया है।

सूफी-संतों का मानवता पर जोर

सूफी संतों ने भारत में आपसी प्रेम और सद्भाव बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई है। उन्होंने उदारता एवं सहिष्णुता पर बल दिया। सूफी संतों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए हृदय की शुद्धता पर बल दिया। बनावटीपन को पसंद नहीं किया। उन्होंने भारतीय वेशभूषा को अपनाया। अपने शुद्ध सात्विक और सरल आचरण द्वारा साधारण जनता को मोह लिया। उनका खानकाह (आश्रम) बिना धार्मिक विभेद के सभी लोगों के लिए खुला था। चिश्ती संतों की लोकप्रियता काफी अधिक है। ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती को सुल्तान-उल-हिंद कहा गया। अजमेर स्थित उनकी दरगाह सर्वधर्म सद्भाव का एक प्रसिद्ध केंद्र है। कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, निजामुद्दीन औलिया, बाबा फरीद, सलीम चिश्ती आदि प्रसिद्ध चिश्ती संत हैं। औलिया की मान्यता थी कि मनुष्य का जन्म ही परस्पर प्रेमपूर्वक रहने के लिए मिला है। इसमें कटुता का कोई स्थान नहीं है। सभी संतों ने अपनी शिक्षाओं में मानवता पर जोर दिया। निर्धन और बेसहारा लोगों की सेवा की। इन सूफी संतों ने अनेक हिंदू परंपराएँ अपना ली थीं, जिससे जनता पर इनकी उदारता का बड़ा प्रभाव पड़ा था। वे हिंदू साधुओं की तरह कमंडल धारण करते थे। उपदेशों के लिए हिंदी भाषा का प्रयोग करते थे।

सूफियों ने भारत में धार्मिक उदारता को बढ़ावा देने में उल्लेखनीय योगदान किया और उत्तरी भारत में प्रचलित हिंदू परंपराओं को इस्लाम मे स्वीकृति दिलाई। उन्होंने संगीत को भक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया। सूफी संगीत सभा को समा कहा जाता है। निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो ने मध्यकालीन भारतीय संगीत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। नए राग-रागनियों को लोकप्रिय बनाया और नए वाद्य यंत्र विकसित किए। मोहम्मद गौस ग्वालियरी ने भी संगीत को संपन्न बनाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। इतिहासकार इम्तयाज अहमद के अनुसार- भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी सूफियों का योगदान अविस्मणीय है।[7] निजामी के शब्दों में-सूफियों की खानकाहों में ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ। उर्दू भाषा के आरंभिक ग्रंथ भी सूफियों द्वारा ही लिखे गए। बाबा फरीद, हुसैन शाह, बुल्ले शाह ने पंजाबी भाषा का प्रयोग कर अपने विचारों को फैलाया। शेख अहमद खट्टू ने गुजराती, कुतबन, मंझन, मलिक मोहम्मद जायसी ने अवधी एवं ब्रजभाषा का प्रयोग किया। बाबा फरीद की शिक्षाएँ गुरुग्रंथ साहिब में भी शामिल है।

1857 गदर और हिंदू-मुस्लिम एकता

1857 की क्रांति की मुख्य विशेषता हिंदू-मुस्लिम एकता थी। इस चट्टानी एकता

मुस्लिम राष्ट्रीय मंच का सूत्रपात

■ विराग श्रीकृष्ण पाचपोर

दिल्ली के चाणक्यपुरी में प्रखर राष्ट्रवादी पत्रकार-लेखक पद्मश्री मुजफ्फर एवं उनकी पत्नी नफीसा हुसैन द्वारा 24 दिसंबर 2002 को आयोजित ईद मिलन कार्यक्रम में सहभागी प्रमुख लोगों से वार्तालाप के दौरान श्री सुदर्शन ने दो प्रश्न किए। पहला प्रश्न था, "भारत के 99.99 प्रतिशत मुसलमान यहीं के हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आए हैं। तब आप स्वयं को 'अल्पसंख्यक' क्यों मानते हैं? स्वयं को इस देश की मुख्यधारा का अंग क्यों नहीं समझते?" और दूसरा सवाल था, "इस्लाम का सही अर्थ है अमन, सलामती, भाईचारा। पर आज दुनिया को जो इस्लाम दिखाई देता है वह मजहब के नाम पर बहुत क्रूर, आतंकी, हिंसक और अशांति फैलाने वाला है। सही इस्लाम कौन सा है? और दुनिया को इस्लाम का सही स्वरूप समझाने की जिम्मेदारी किसकी है?"

कार्यक्रम में शामिल प्रमुख लोगों में मौलाना वहीदुद्दीन खान, ऑल इंडिया इमाम कौंसिल के तत्कालीन अध्यक्ष मौलाना जमील इलयासी और सरदार त्रिलोचन सिंह आदि थे। श्री सुदर्शन के ये दोनों ही प्रश्न उस बैठक में उपस्थित मुस्लिम नेताओं के लिए अनपेक्षित और नए थे। मौलाना जमील इलियासी ने सबकी ओर से उत्तर देते हुए कहा, "ऐसे सवाल हमसे आज तक किसी ने किए ही नहीं। आप पहले ऐसे शख्स हैं जिसने ये सवाल कर हमारे अंदर एक हलचल पैदा की है, पर इसके जबाब हम आपको आज ही दे नहीं सकेंगे। आपके इन प्रश्नों को लेकर हम अपने लोगों के बीच जाएंगे, उनसे सलाह मशविरा करेंगे और उसके बाद ही आपको जबाब दे सकेंगे।"

इस बैठक का नतीजा यह हुआ कि देश के मुसलमानों के बीच वतनपरस्ती, शिक्षा, रोजगार, महिलाओं के प्रति सम्मान आदि विषयों की अलख जगाने की दृष्टि से एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता पर भरपूर विचारमंथन हुआ। जिस काल में यह बैठक हुई वह बहुत ही उथल-पुथल वाला समय था। स्व. अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्त्व में केंद्र में एनडीए की 24 पार्टियों की सरकार सत्ता में थी। 2002 में गुजरात में गोधरा कांड की बहुत हिंसक प्रतिक्रिया हुई थी जिसके चलते कांग्रेस और अन्य सेक्युलर और वामपंथी पार्टियों ने मुसलमानों के मन में हिंदुओं, खासकर आरएसएस के प्रति जहर घोल दिया था। परंतु गोधरा कांड और उस पर हुई प्रतिक्रिया के बाद मुस्लिम नेतृत्व हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर नए सिरे से सोचने की आवश्यकता महसूस करने लगा था। उनकी ओर से इस प्रकार के सामाजिक संगठन की आवश्यकता को लेकर सुझाव आया और उसमें उन्होंने आरएसएस से सहायता का अनुरोध किया। इस पर गंभीर चिंतन और विमर्श के बाद राष्ट्रवादी मुस्लिम आंदोलन के नाम से एक संगठन प्रारंभ करने का निर्णय हुआ और उसके मार्गदर्शन और संरक्षण का दायित्व आरएसएस के वरिष्ठ प्रचारक श्री इन्द्रेश कुमार को सौंपा गया।

जयपुर के प्रसिद्ध मोती डूंगरी मस्जिद के परिसर में मुस्लिम मंच का तीसरा अखिल भारतीय अधिवेशन 2005 में सेकुलर पार्टियों के जबरदस्त विरोध के बावजूद शांतिपूर्ण तरीके से संपन्न हुआ। इसी अधिवेशन में 'मुस्लिम राष्ट्रीय मंच' नाम पर मुहर लगी। अपने उद्‌बोधन में श्री सुदर्शन ने कहा कि भारत शांति के संदेश को प्रसारित करनेवाली भूमि है। स्वयं मोहम्मद साहब ने फरमाया है कि जब भी वे तनाव में या तनहा में रहते थे तो सुकून की ठंडी हवा उन्हें पूरब से यानि हिंद से आती थी। अत: भारत दारुल अमन है और यही संदेश यहाँ से दुनिया में जाना चाहिए।

2006 मार्च में जब अजमेर (राजस्थान) में मुस्लिम राष्ट्रीय मंच और सर्व पंथ समादर मंच का साझा कार्यक्रम हुआ तो उसमें मौलाना जमील इलयासी ने इन प्रश्नों के उत्तर दिए। कार्यक्रम में सम्मिलित 2000 से भी अधिक मुसलमानों के सामने ऐलान करते हुए उन्होंने कहा कि भारत का मुसलमान इसी जमीन का बाशिंदा है। हमारे और हिंदुओं के पुरखे, तहजीब और वतन साझा हैं। इसलिए हम मुस्लिम भारत में अल्पसंख्यक नहीं है। श्री सुदर्शन को 'कौमी एकता के अलमबरदार' जैसे विशेषण से नवाजते हुए उन्होंने कहा कि हिंदुस्तान में मुसलमानों का सच्चा दोस्त अगर कोई है तो वो आरएसएस है। कांग्रेस जैसी पार्टियाँ हमारी हितैषी नहीं हैं, उनको तो केवल हमारे वोट से मतलब है। जोधपुर के मुफ्ती भी उस जलसे में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने कहा कि इस्लाम ने सबकी सलामती और भाईचारे का संदेश दुनिया को दिया है। इसलिए जो मजहब के नाम पर फसाद करते और करवाते हैं वे इस्लाम को ही बदनाम करते हैं। हम मुस्लिम इसका समर्थन नहीं करते।

से विचलित होकर अंग्रेजों ने बाद में फूट डालो, शासन करो की नीति अपनाई। क्रांति का मसविदा तैयार करने से लेकर क्रांति के क्रियान्वयन तक दोनों संप्रदायों के लोगों ने एक-दूसरे का पूरा साथ दिया। विद्रोहियों, सिपाहियों, हिंदू एवं मुसलमानों ने एक-दूसरे की भावनाओं का आदर किया। एक विशेष क्षेत्र में विद्रोह सफल होने पर वहाँ तुरंत गाय को मारने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।[8] 1857 की क्रांति में मुसलमानों की भागीदारी को देखकर रॉबर्ट्स एवं श्रीमती कूपलैंड ने इसे मुस्लिम विद्रोह और जी.बी. मालेसन, सर जेम्स आउट्रम व डब्ल्यू टेलर ने अंग्रेजों के खिलाफ हिंदू-मुस्लिम षड्यंत्र कहा। उलेमा ने अंग्रेजों के खिलाफ जेहाद का आह्वान तक कर डाला। 10 मई 1857 को सैनिकों ने मेरठ से क्रांति का बिगुल फूँका और मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर द्वितीय को अपना सर्वोच्च नेता स्वीकार किया। दिल्ली में विद्रोह का वास्तविक नेता बहादुरशाह

जफर का सेनाप्रमुख जनरल बख्त खान था।

लखनऊ में क्रांति की बागडोर अवध की बेगम हजरत महल ने सँभाल रखी थी। इस सेना ने ब्रिटिश रेजिडेंट हेनरी लॉरेन्स को मार डाला। कॉलिन कैंपबेल ने गोरखा रेजिमंट की मदद से लखनऊ भले जीत लिया, लेकिन बेगम ने आत्मसमर्पण नहीं किया और नेपाल चली गई। कानपुर में पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहेब की सहायता में तात्या टोपे व अजीमुल्ला खां अग्रणी रहे। इलाहाबाद में मौलवी लियाकत अली और फैजाबाद में मौलवी अहमदुल्लाह ने क्रांति की बागडोर संभाली। अहमदुल्लाह ने आह्वान किया कि अंग्रेजों को भारत से बाहर खदेड़ दो। अहमदुल्लाह से भयभीत होकर अंग्रेज ने उस पर 50,000 रुपये का नकद इनाम घोषित कर दिया था। बकौल विनायक दामोदर सावरकर- इस बहादुर मुस्लिम का जीवन दर्शाता है कि इस्लाम की शिक्षाओं में तर्कपरक आस्था भारतीय धरती से गहरे एवं सर्वशक्तिमान प्रेम से किसी भी तरह असंगत या शत्रुतापूर्ण नहीं है।[2] बरेली में खान बहादुर खां ने मोर्चा संभाला। मंदसौर (म.प्र) में मुगल शहजादे फिरोजशाह ने नेतृत्व किया। गुड़गांव, मेवात में मदरुद्दीन नामक किसान ने विद्रोह किया। पानीपत में बू अली कलंदर के इमाम के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। पूना की जामा मस्जिद में 22 मई 1857 को विद्रोहियों की जीत के लिए दुआ की गई। कोल्हापुर, रत्नागिरी व बंबई में विद्रोह की तैयारी करने वाले सैयद हुसैन व मंगल को सरेआम तोप से उड़ा दिया गया था। सुल्तानपुर में शहीद हसन, मद्रास में गुलाम गौस, शेख इब्राहिम ने स्थानीय स्तर पर अंग्रेजों को कड़ी चुनौती पेश की। अभिलेखागार कैसर-उल-तवारीख के वार्षिक वृत्तांत के अनुसार 1857 की क्रांति के दौरान सिर्फ दिल्ली में फाँसी पर चढ़ाए गए मुस्लिमों की संख्या सत्ताईस हजार थी। सिर्फ मुस्लिम पुरुष ही नहीं, अपितु बेगम जीनत महल और अजीजन बाई आदि मुस्लिम महिलाओं ने भी संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया।[10]

विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियाँ

देश के बाहर भी क्रांतिकारी गतिविधियों में मुसलमानों की भागीदारी थी। कैलिफोर्निया (अमेरिका) में गठित गदर पार्टी के संस्थापकों में डॉ. बरकतुल्लाह शामिल थे। कनाडा में हसन रहीम ने यूनाइटेड इंडिया लीग की स्थापना की और हिंदुस्तानी अखबार निकाला। 5वीं इंडियन नेटिव लाइट इनफैंट्री ने फरवरी 1915 में अंग्रेजों के खिलाफ सिंगापुर विद्रोह किया। इसमें कासिम इस्माइल खान, मंजूर समेत 47 लोगों को फाँसी दी गई। इस विद्रोह में अब्दुर रेजा खान, इम्तियाज अली, रुकनुद्दीन खान, हवलदार सुलेमान, जफर अली खान आदि शामिल थे। फ्रांस में भूमिगत क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए सैयद रहमत शाह को फाँसी की सजा दी गई। मलाया और बर्मा (म्यांमार) में विद्रोह की योजना बनानेवाले अली अहमद सिद्दीकी और सैयद मुजतबा हुसैन को फाँसी पर लटका दिया गया। फिलीपींस में गदर पार्टी के नेता हाफिज अब्दुल्लाह और रहमत अली को फाँसी पर लटका दिया गया। रेशमी रूमाल आंदोलन में उबैदुल्लाह सिंधी, महमूद अल हसन ने विदेशी शक्तियों की मदद से अंग्रेजी शासन को खत्म करने का प्रयास किया। 1 दिसंबर 1915 को काबुल (अफ्गानिस्तान) में भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत की अंतरिम सरकार बनाई थी। इसमें महेंद्र प्रताप राष्ट्रपति, मौलाना बरकतुल्लाह प्रधानमंत्री व उबैदुल्लाह सिंधी गृहमंत्री थे। रॉलेट एक्ट के खिलाफ मुहिम में अब्बास तैयब जी, हकीम अजमल खान, उमर सोभानी, डॉ एमए अंसारी, मौलाना अब्दुल बारी, मौलाना हसरत मोहानी, याकूब खान आदि शामिल थे।

हिंदू-मुस्लिम एकता आवश्यक

वर्तमान समय में विश्व कोरोना जैसी महामारी से जूझ रहा है। मानयीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के कुशल नेतृत्व में देश मजबूती से इस बीमारी से लड़ रहा है। सोने की चिड़िया और विश्वगुरु बनने की राह हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना संभव नहीं है। पैगंबर का स्पष्ट निर्देश है कि अपने वतन से मुहब्बत करो। अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो के बीज को अब अंकुरित होने नहीं देना है। शैक्षणिक स्तर पर मुस्लिम समाज को अभी लंबा सफर तय करना है। शिक्षा के बिना विकास संभव नहीं। गत कई वर्षों से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत इस एकता को मजबूत करने के प्रति गंभीर हैं। अनर्गल बयान देने वाले लोगों को उन्होंने लताड़ा भी। राष्ट्रीय मुस्लिम मंच नेशन फर्स्ट के तहत मुस्लिम समाज में राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित है। देश भर से मुस्लिम युवाओं का सकारात्मक रुझान मिल रहा है। मंच के सदस्यों की संख्या में निरंतर बढ़ोत्तरी इसका प्रमाण है। यह ऐतिहासिक कार्य परम आदरणीय इंद्रेश कुमार जी के अनुभवी निर्देशन में सफलतापूर्वक संचालित है।

संदर्भ

1. राहुल सांकृत्यायन, *इस्लाम धर्म की रूपरेखा*, किताब महल, दिल्ली, (2002), पृ-09
2. डॉ. वी.डी.महाजन, *मध्यकालीन भारत*, एस चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली (2013), पृ-14
3. एस.के.पाण्डेय, *मध्यकालीन भारत*, प्रयाग एकेडमी, इलाहाबाद, पृ-24).
4. एस. आर. शर्मा, *भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास*, पृ-219.
5. प्रो. हरफूल सिंह आर्य, *मध्यकालीन समाज, धर्म कला एवं वास्तुकला*, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, पृ-245
6. Ashraf, *Life and Condition of the people of Hindustan* (पृ-303)
7. इम्त्याज अहमद, *मध्यकालीन भारत (8वीं से 18वीं शताब्दी)-एक सर्वेक्षण*, नेशनल पब्लिकेशन, पटना, 2007, पृ-153
8. राजीव अहीर, *आधुनिक भारत का इतिहास*, स्पेक्ट्रम बुक्स, नयी दिल्ली, 2017, पृ-184.
9. डॉ. पृथ्वी राज कालिया, *स्वाधीनता संग्राम में मुस्लिम भागीदारी*, गार्गी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2016, पृ-24
10. खालिद मोहम्मद खान, *जंगे आजादी और मुसलमान*, फारोस पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2019, पृ-15

चर्च के भँवरजाल में धर्मांतरित ईसाई

आर. एल. फ्रांसिस

चर्च के भँवरजाल में फँसकर ईसाई बन चुके दलित अब अपने को ठगा-सा महसूस कर रहे हैं। वैश्विक ईसाइयत में समान दर्जे का झाँसा देकर लाए गए दलितों के साथ चर्च में ही हर कदम पर भेदभाव हो रहा है। एक समाजार्थिक विश्लेषण

धर्म जब तक निजी अनुभव तक सीमित रहे धर्म रहता है लेकिन जब धर्म के सहारे साम्राज्य खड़ा किया जाने लगे जबरदस्ती या बहला फुसलाकर झुंड तैयार किए जाने लगें, तब वह धर्म न होकर संस्थागत रूप धारण कर लेता है। निजी अनुभव की दुनिया से अलग हटकर संस्था का रूप लेते ही धर्म शासन जैसा बनने लगता है। लोग इसके नाम पर होने वाली उद्दंडता को ईश्वरीय मानने लगते हैं। भारत में ईसाइयों की स्थिति को लेकर लगातार चर्चा का दौर जारी है। इस चर्चा के दो बिंदु मुख्य हैं - पहला, धर्मांतरित ईसाइयों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति तथा दूसरा, चर्च के कार्य (धर्मप्रचार) पर उठते सवाल और बढ़ता तनाव।

भारत में ईसाइयों की कुल जनसंख्या लगभग 2 करोड़ 40 लाख है। इनमें से 60 प्रतिशत दलित मूल के हैं। जबकि गैर-सरकारी आँकड़ों के मुताबिक ईसाइयों की संख्या 70 से 80 मिलियन से कम नहीं है। (ऐसा इसलिए है क्योंकि बहुसंखयक ईसाई दोहरी जिंदगी जीते हैं, वे दो धर्म और एक जाति को भी अपने साथ ढोते रहते हैं। अध्यात्म एवं विश्वास में वह ईसाई यानी चर्च के मजबूत अनुयायी हैं और सरकारी सुविधाओं की लालसा में हिंदू दलितों की श्रेणी में रहते हैं। इसमें उनको चर्च का मौन समर्थन भी मिलता रहता है।)

आज चर्च के अंदर यह दलित ईसाई लगातार शोषित और उत्पीड़त किए जा रहे हैं। सैकड़ों वर्ष पूर्व चर्च के लिए किए गए बलिदानों के बदले में उनका उपहास उड़ाया जा रहा है। ईसाइयत के अंदर ही उन्हें दोयम दर्जा दिया जा रहा है। ईसाइयत के मुताबिक ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही छवि में सृजा है। इसी आधार पर आस्था रखने वाला ईसाई समाज 'मानवीय मूल्यों और समानता का प्रचार करता है। पर भारत में उन्हें जन्म एवं जाति के नाम पर अलग किया जा रहा है।

कौन है यह दलित ईसाई

भारतीय समाज में गरीबी, अशिक्षा और असमानता का लाभ उठाकर ईसाई मिशनरी ने जनसंख्या के एक हिस्से को ईसाई तो बना दिया लेकिन आज भी वे हर कदम पर विषमता के शिकार हो रहे हैं। मसलन अभी तक जो दलित सिर्फ दलित था जिसके साथ कुछ स्थानों पर जातीय भेदभाव था उसे ईसाई तो बना दिया इससे उसका जातीय भेद कम नहीं हुआ बल्कि अब वह जातीय दंश के साथ धार्मिक दंश भी झेल रहा है। चर्च भारत में ऊँच-नीच, असमानता और भेदभाव से पीड़ित रहे करोड़ों दलितों और समाज के हाशिए पर खड़े लोगों को क्रूस तक तो ले आया, लेकिन यहाँ लाकर आज चर्च उनके जीवन स्तर को सुधारने की बजाय अपने साम्राज्य के विस्तार में व्यस्त है और अनुयायियों की स्थिति से पल्ला झाड़ते हुए उन्हें सरकार की दया पर छोड़ना चाहता है।

दलित ईसाइयों को बड़े पैमाने पर छुआछूत और भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। यह किसी दक्षिणपंथी नेता का बयान नहीं, खुद भारत के कैथोलिक चर्च की स्वीकारोक्ति है। इतिहास में पहली बार भारत के कैथोलिक चर्च ने यह स्वीकार किया है कि जिस छुआछूत और जातिभेद के दंश से बचने के लिए दलितों ने हिंदू धर्म को त्यागा था, वे आज भी उसके शिकार हैं। वह भी उस धर्म में जहाँ कथित तौर पर उनको वैश्विक ईसाइयत में समानता के दर्जे और सम्मान के वादे के साथ शामिल कराया

गया था।

चर्च-नेतृत्व से जब भी धर्मांतरित ईसाइयों के विकास की बात की जाती है तो वह बड़ी चतुराई से उन्हें हिंदू दलितों से जोड़ देता है। उनकी जड़ें और समस्या एक बताता है। यह सच है कि वे इन समुदायों की जातिवादी व्यवस्था से विद्रोह कर ईसाइयत में आए हैं, लेकिन उससे भी बड़ा सच यह है कि उसके बाद उनका गैर-ईसाई दलितों के साथ कोई खास रिश्ता नहीं रहा। यहाँ तक कि उनकी पूजा-पद्धति, प्रतीक, रहन-सहन और जीवन जीने का ढंग सब बदल गया है। उनकी समस्याओं और तकलीफों को गैर-ईसाई दलितों के समान नहीं देखा जा सकता। दलित ईसाइयों को आज अनुसूचित जाति के 'टैग' की जरूरत नहीं है। जरूरत है उनके सामाजिक अधिकारों की सुरक्षा और आर्थिक विकास की सुविधाएँ उपलब्ध कराए जाने की। उन्हें चर्च के संसाधनों पर बराबर का हक देने की।

देश में कैथोलिक चर्च के आधिकारिक तौर पर लगभग 2 करोड़ सदस्य हैं, इनमें से 60 से 70 प्रतिशत दलित ईसाई यानी हिंदू धर्म से बरगलाकर लाए गए लोग हैं। कैथोलिक बिशप्स कॉन्फ्रेंस ऑफ इंडिया द्वारा 'पॉलिसी ऑफ दलित एंपावरमेंट इन द कैथोलिक चर्च इन इंडिया' नाम से प्रकाशित रिपोर्ट के मुताबिक, 'चर्च में दलितों से छुआछूत और भेदभाव बड़े पैमाने पर मौजूद है। इसे जल्द से जल्द खत्म किए जाने की जरूरत है।' कैथोलिक चर्च की रिपोर्ट में कहा गया है कि दलितों के साथ अन्याय हो रहा है और चर्च में बदलाव की जरूरत है ताकि उन्हें पर्याप्त अधिकार दिए जा सकें।

यह रिपोर्ट शायद उन लोगों की आँखें खोल सके, जो ईसाई मिशनरियों के धर्मांतरण को देखना नहीं चाहते। वामपंथी और कुछ दलित चिंतक अकसर कहते हैं कि जो हिंदुत्व दलितों को बराबरी नहीं दे सकता, उससे निकल जाना ही बेहतर है। इस रिपोर्ट के बहाने उन्हें यह बताना चाहिए कि आखिर वे हिंदुत्व से निकलकर भी दलदल में क्यों हैं? इसी रिपोर्ट में कैथोलिक चर्च ने दोहराया है कि हम लंबे समय से दलित ईसाइयों को अनुसूचित जातियों की श्रेणी में शामिल करवाने के लिए लड़ रहे हैं और यह उन्हें मिलना ही चाहिए। रिपोर्ट में सुप्रीम कोर्ट की ओर से दलित ईसाइयों को आरक्षण दिए जाने की माँग को खारिज किए जाने की भी आलोचना की गई है।

रंगनाथ मिश्र आयोग की रिपोर्ट

भारत सदैव बहुधर्मी रहा है। हमें युगों से चली आ रही अपनी धार्मिक सहिष्णुता पर गर्व है। अपने धर्म को महत्व देकर कुछ धर्मावलंबी कभी-कभी लालच, भय या धोखे से दूसरों का धर्मांतरण कर अपने में मिलाने के हथकंडे अपनाते देखे जाते रहे हैं। यह सिलसिला आज भी जारी है। वोट बटोरने की राजनीति से अब हमारा देश अस्थिरता के नए दौर में धकेला जा रहा है। वोट बैंक कब्जाने के लिए सबसे बड़ा हथियार आरक्षण बन गया है।

भारतीय चर्च धर्मांतरित ईसाइयों को संविधान संशोधन कर अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल करने के लिए सरकार पर दबाव बना रहा है। देश के संविधान में आजादी के बाद अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया था। संविधान में धर्मांतरित ईसाइयों को आरक्षण नहीं देने का प्रावधान है। चर्च ने अपना साम्राज्य तो बढ़ा लिया लेकिन धर्मांतरित ईसाइयों के विकास के लिए कुछ नहीं किया। आज कुछ संगठन धर्मांतरित ईसाइयों को अनुसूचित जाति की सूची में शामिल करने के लिए दबाव डाल रहे हैं।

दूसरी ओर रंगनाथ मिश्र आयोग की रिपोर्ट ने हिंदू अनुसूचित जातियों के अंतर्गत आने वाले लोगों के मन में भय के बीज बोने का ही काम किया है। मिश्र आयोग ने यह सिफारिश की है कि 1950 के आदेश के पैरा 3 में संशोधन करते हुए मुस्लिम और ईसाइयों को भी अनुसूचित जातियों को दिए जाने वाले आरक्षण के लाभ दिए जाएँ, क्योंकि यह आदेश बौद्धों और सिखों पर तो अमान्य घोषित हो चुका है तथा उन्हें भी हिंदुओं की अनुसूचित जातियों के समान आरक्षण दे दिया गया है तो हिंदू दलितों से धर्मांतरित ईसाई और मुस्लिम भी इस अधिकार के पात्र बनते हैं। रंगनाथ मिश्र आयोग की रिपोर्ट द्वारा की गई सिफारिश ईसाई एवं मुस्लिम सिद्धांतों के विरुद्ध है। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष ने धर्म के आधार पर ईसाइयों और मुस्लिमों को आरक्षण देने का विरोध किया था।

धर्मांतरित ईसाइयों को अनुसूचित जाति का दर्जा दिए जाने की माँग वाली याचिका पर सुप्रीम कोर्ट ने सवाल किया था कि क्या क्रिश्चियनों में भी जाति प्रथा होती है? सुप्रीम कोर्ट ने यह सवाल भी किया था कि क्या क्रिश्चियन इस तथ्य को स्वीकार करेंगे जिसके आधार पर उन्हें भी अनुसूचित जातियों की तरह सूचीबद्ध किया जाए? ईसाई नेताओं का तर्क है कि चूँकि धर्म बदल लेने से व्यक्ति का जीवन स्तर नहीं बदल जाता, न ही उनका सामाजिक रुतबा बढ़ जाता है, अतः उन्हें भी हिंदुओं की समानता में अनुसूचित जातियों में शामिल किया जाए।

चर्च नेतृत्व दलित ईसाइयों को अनुसूचित जातियों की श्रेणी में शामिल कराने के लिए भारत सरकार पर लगातार दबाव डालता रहा है। भारतीय चर्च नेतृत्व पिछले कई दशकों से अनुसूचित जातियों से ईसाइयत में दीक्षित होने वालों के लिए हिंदू मूल के अनुसूचित जातियों के समान ही सुविधाओं की माँग करता आ रहा है। इसलिए कि धर्म

भारतीय चर्च धर्मांतरित ईसाइयों को संविधान संशोधन कर अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल करने के लिए सरकार पर दबाव बना रहा है। देश के संविधान में आजादी के बाद अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया था। संविधान में धर्मांतरित ईसाइयों को आरक्षण नहीं देने का प्रावधान है। चर्च ने अपना साम्राज्य तो बढ़ा लिया लेकिन धर्मांतरित ईसाइयों के विकास के लिए कुछ नहीं किया। आज कुछ संगठन धर्मांतरित ईसाइयों को अनुसूचित जाति की सूची में शामिल करने के लिए दबाव डाल रहे हैं

बदलते ही अनुसूचित जाति वालों की वे तमाम सुविधाएँ खत्म हो जाती हैं जो उन्हें हिंदू रहते हुए उपलब्ध होती हैं। इस कारण अनुसूचित जातियों से ईसाइयत में दीक्षित होने वालों की संख्या उनकी आबादी के हिसाब से आदिवासी समूहों के मुकाबले बहुत कम है।

भारत में धर्मांतरण दो कारणों से हुआ है। पहला-सामाजिक-आर्थिक विसंगतियों एवं शोषण के खिलाफ विक्षोभ तथा दूसरा, लाभ के लिए व्यक्तिवादी सोच। जातिवादी व्यवस्था एवं सामाजिक उत्पीड़न-शोषण से मुक्ति की आशा में ही बड़ी संख्या में अनुसूचित जातियों के लोगों ने ईसाइयत की दीक्षा ली। माना गया कि ईसाइयत में किसी भी प्रकार के जातिवादी भेदभाव या शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन चर्च नेतृत्व ने मुक्ति की आशा में आए लोगों को महज एक संख्या ही माना और उनके विकास पर ध्यान देने की जगह वह अपना साम्राज्य बढ़ाने में लगा रहा। धर्मांतरित ईसाइयों की इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है कि जिस चर्च नेतृत्व पर उन्होंने विश्वास करते हुए अपने पूवर्जों के धर्म तक का त्याग कर दिया, उसी चर्च नेतृत्व ने उनकी आस्था के साथ विश्वासघात करते हुए उन्हें वापस उसी जातिवादी व्यवस्था में धकेलने का बीड़ा उठा लिया है।

चर्च नेतृत्व ने वंचित वर्गो के बीच अपना आधार ही इस प्रलोभन के तहत बढ़ाया कि ईसाइयत के बीच जातिभेद नहीं है और यहाँ मत परिवर्तित करके ईसाइयत अपनाने वाले दलितों के साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा। ईसाई समाज में समानता के इस स्थान की झूठी आशा में ही दलितों ने ईसाई धर्म अपनाया। दलित ईसाइयों के संगठन पुअर क्रिश्चियन लिबरेशन मूवमेंट का मानना है कि यदि चर्च की पूरी शक्ति दलित ईसाइयों के पीछे लगा दी जाए, तो उनके सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बड़ा परिवर्तन लाया जा सकता है। धर्म परिवर्तन के नाम पर विदेशों से भेजी जा रही अकूत धनराशि का सदुपयोग यदि उनके विकास पर खर्च की जाए तो उनके जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है, लेकिन सत्य कुछ और ही है। चर्च केवल अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के उद्देश्य को

साभार: https://catholicmoraltheology.com/

ही सर्वोपरि रखता है। जाति के आधार पर ईसाइयों को नहीं बाँटा जाना चाहिए, बल्कि उनके कल्याण के लिए ऐसे समाधान खोजे जाएँ जिससे जातिविहीन सिद्धांत का आधार भी बना रहे और आर्थिक रूप से पिछड़े ईसाइयों को लाभ भी हो।

चर्च के संसाधनों पर दलित ईसाइयों की कितनी भागीदारी

चर्च द्वारा संचालित संस्थानों में दलित ईसाइयों को महत्वपूर्ण स्थान कभी नहीं दिया गया। भारत के सबसे बड़े कैथोलिक चर्च में ही वे उपेक्षित व अपमानित स्थिति में हैं। कैथोलिक बिशप कॉन्फ्रेंस ऑफ इंडिया (सीबीसीआई) और नेशनल काउंसिल चर्चेज फॉर इंडिया (एनसीसीआई) क्या यह बता सकते हैं कि चर्च के इस विशाल साम्राज्य में दलित ईसाइयों की कितनी हिस्सेदारी है? कितने स्कूलों में दलित ईसाई प्रिंसिपल और अध्यापक हैं? कितने कॉलजों में दलित प्रोफेसर या डीन हैं? कितने अस्पतालों में दलित डॉक्टर हैं? शिक्षा का डंका बजाने वाले चर्च की कृपा से पढ़-लिखकर कितने दलित उच्च पदों पर हैं? हजारों करोड़ के विदेशी अनुदान से गरीबों के उद्धार का दावा करने वाले चर्च के सामाजिक संगठनों में कितनों के निर्देशक दलित ईसाई हैं?

आध्यात्मिक मामलों की ही बात करें तो दलित ईसाइयों की स्थिति बेहद दयनीय है। मौजूदा समय में भारत के कैथोलिक चर्च में 4 कार्डिनल हैं। इनमें कोई दलित ईसाई नहीं है। 30 आर्च बिशप हैं। इनमें कोई दलित ईसाई नहीं है। 175 बिशप हैं। इनमें केवल 9 दलित बिशप हैं। कैथोलिक चर्च में 822 मेजर सुप्रीरियर हैं। इनमें केवल 12 दलित ईसाई है। 25000 कैथोलिक पादरियों में केवल 1130 दलित ईसाई हैं। एक लाख नन में से केवल कुछ हजार धर्म बहनें ही दलित वर्ग से आती हैं। करीब एक दशक पूर्व दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कॉलेज में

चर्च नेतृत्व ने धूम धड़ाके के साथ दलित ईसाइयों को 40 प्रतिशत आरक्षण देने का ऐलान किया था। इसे देखते हुए दिल्ली कैथोलिक आर्च डायसिस ने भी 30 प्रतिशत आरक्षण देने का ऐलान किया था। सेंट स्टीफेंस कॉलेज ने दो साल के अंदर ही आरक्षण बंद कर दिया। कैथोलिक ने कभी इसे लागू ही नहीं किया।

चर्च के पूरे साम्राज्य पर मुट्ठी भर क्लर्जी वर्ग का एकाधिकार बन गया है। कर्नाटक उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश माइकल एफ सलदना के मुताबिक चर्चों के नीतिगत फैसले लेने में केवल 1.3 प्रतिशत क्लर्जी वर्ग का दबाव है। 98.7 प्रतिशत लेइटी की कोई भूमिका ही नहीं है। पिछले छह दशकों में चर्च ने हजारों अरब रुपयों की संपत्तियों को बेच दिया है। वह पैसा कहाँ गया, इसकी समाज को कोई जानकारी नहीं है। भारत में हजारों ऐसे चर्च हैं जहाँ हर चर्च में प्रति वर्ष 2.5 मिलियन रुपये इकट्ठा होते हैं। चर्चों में इकट्ठा होने वाले इन अरबों रुपयों को गरीब ईसाइयों के विकास पर खर्च करने का कोई मॉडल ही नहीं है। वर्ष 2002 में देश की राजधानी दिल्ली में 'पुअर क्रिश्चियन लिबरेशन मूवमेंट' ने दलित ईसाइयों के विकास के लिए कैथोलिक बिशप कॉन्फ्रेंस ऑफ इंडिया एवं नेशनल काउंसिल चर्चेज फॉर इंडिया के सामने दस सूत्री माँग पत्र रखा था।

इसमें चर्च संस्थानों में समुदाय की भागीदारी, धर्म परिवर्तन पर रोक, विदेशी अनुदान में पारदर्शिता, बिशपों का चुनाव वेटिकन/पोप की जगह समुदाय द्वारा करने, चर्च संपत्तियों की रक्षा हेतु बोर्ड बनाने जैसे मुद्दे उठाए गए थे। इसे चर्च नेतृत्व ने अपनी कुटिलता से दबा दिया था। मूवमेंट के कार्यकर्ता ईसाई समाज में जन-चेतना फैलाने के अपने कार्य में लगे हैं। इसी का परिणाम है कि आज सबसे शक्तिशाली माने जाने वाले रोमन कैथोलिक चर्च में भी आम ईसाइयों के अधिकारों की बात उठने लगी है। भारत का चर्च न तो चर्च संसाधनों पर अपनी पकड़ ढीली करना चाहता है और न ही वह वेटिकन और अन्य पश्चिमी देशों का मोह त्यागना चाहता है। विशाल संसाधनों से लैस चर्च अपने अनुयायियों की स्थिति से पल्ला झाड़ते हुए उन्हें सरकार की दया पर छोड़ना चाहता है।

दलित ईसाइयों को मुआवजा दे वेटिकन

भारत में चर्च को कुछ संवैधानिक अधिकार प्राप्त है। भाषा और संस्कृति को संरक्षण देने वाली संवैधानिक धाराओं का दुरुपयोग करते हुए चर्च ने भारत में कितनी संपत्ति इकट्ठी की है, इसकी निगरानी करने का कोई नियम नहीं है। जबकि कई पश्चिमी देशों में इस तरह की व्यवस्था बनाई गई है। चर्चों और उनके संस्थानों को नियंत्रित करने के लिए कोई कानून नहीं है। देश में सरकार के बाद सबसे ज्यादा भूमि चर्च के ही पास है और वह भी शहरी पॉश इलाकों में। देश की जनसंख्या का ढाई प्रतिशत होने का दावा करने वाले चर्च के पास भारत की 22 प्रतिशत शिक्षण संस्थाओं और 30 प्रतिशत स्वास्थ्य सेवाओं पर चर्च का कब्जा है। इतना सब होने पर भी आम गरीब ईसाई मर रहा है और हमारे चर्च नेता केवल धर्म प्रचार की स्वतंत्रता और उनकी संस्थाओं को विशेष दर्जा दिलाने जैसे कार्यो में ही व्यस्त हैं।

कुछ साल पहले दलित ईसाइयों (धर्मांतरित ईसाइयों) के एक प्रतिनिधिमंडल ने संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बान की मून के नाम एक ज्ञापन देकर आरोप लगाया था कि कैथोलिक चर्च और वेटिकन दलित ईसाइयों का उत्पीड़न कर रहे हैं। जातिवाद के नाम पर चर्च संस्थानों में दलित ईसाइयों के साथ लगातार भेदभाव किया जा रहा है। प्रतिनिधिमंडल की माँग थी कि उन्हें चर्च में बराबर के अधिकार उपलब्ध कराए जाएँ और अगर वह ऐसा नहीं करते हैं, तो संयुक्त राष्ट्र में वेटिकन को मिले स्थाई ऑब्जर्वर के दर्जे को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

ईसाई संगठन पुअर क्रिश्चियन लिबरेशन मूवमेंट ने पोप फ्रांसिस एवं वेटिकन की सुप्रीम काउंसिल और वर्ल्ड काउंसिल ऑफ चर्चेज (डब्लूय.सी.सी.) से माँग की कि वह एवेंजलिज्म (धर्मप्रचार) पर खर्च होने वाले धन का उपयोग दलित ईसाइयों के विकास के लिए करें। कैथोलिक चर्च में बिशप का चुनाव करने का अधिकार आम ईसाइयों को दें - वर्तमान समय में वेटिकन का पोप ही बिशप की नियुक्ति करता है। स्थानीय ईसाइयों के बीच चर्च सत्ता का हस्तांतरण करने और चर्चों और चर्च संस्थानों से प्राप्त होने वाले धन को दलित ईसाइयों पर खर्च करने की माँग की है। इसके लिए चर्च अपने विशेष अधिकारों के तहत चलाए जा रहे संस्थानों में डायवर्सिटी को लागू करे।

कैथोलिक ढाँचे में दलित चर्च की स्थापना क्यों की जाए?

तमिलनाडु के दलित ईसाई संगठनों ने भारत में एक नया दलित चर्च शुरू करने का प्रस्ताव रखा है। नवगठित भारतीय दलित कैथोलिक संस्कार वेटिकन या पोप के प्रत्यक्ष शासन के तहत ही कार्य करेगा। लेकिन इसके पहले नेशनल कौंसिल ऑफ दलित क्रिश्चियन (एनसीडीसी) के संयोजक ने कहा था, कि "नया चर्च भारतीय कैथोलिक चर्च के जातिवादी नेतृत्व से दलित कैथोलिक ईसाइयों को अलग करेगा।" अब स्वाभाविक रूप से सवाल उठता है कि अगर वर्तमान में वेटिकन भारतीय कैथोलिक चर्च में सुधार करने और उसे मानवतावादी विचारधारा में ढालने में विफल रहा है, तो क्यों न उसे करोड़ों धर्मांतरित ईसाइयों की आस्था से विश्वासघात करने के लिए कटघरे में खड़ा किया जाए।

ईसाइयत जब हर प्रकार के भेदभाव,

भारत में चर्च को कुछ संवैधानिक अधिकार प्राप्त है। भाषा और संस्कृति को संरक्षण देने वाली संवैधानिक धाराओं का दुरुपयोग करते हुए चर्च ने भारत में कितनी संपत्ति इकट्ठी की है, इसकी निगरानी करने का कोई नियम नहीं है। जबकि कई पश्चिमी देशों में इस तरह की व्यवस्था बनाई गई है। चर्चों और उनके संस्थानों को नियंत्रित करने के लिए कोई कानून नहीं है। देश में सरकार के बाद सबसे ज्यादा भूमि चर्च के ही पास है और वह भी शहरी पॉश इलाकों में

जाति और नस्ल को नकारते हुए मसीहियत में सभी को समान मानती है तो फिर भारत में वेटिकन के नेतृत्व में दलित चर्च क्यों बनाया जाए? कहीं ऐसा तो नहीं कि हिंदू दलितों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए इस कार्ययोजना को आगे बढ़ाया जा रहा है। नवगठित भारतीय दलित कैथोलिक को जब पोप के प्रत्यक्ष शासन के तहत ही कार्य करना होगा तो उसे खड़ा करने में वेटिकन निवेश भी करेगा। नया संगठनात्मक ढाँचा, नए चर्च, डायसिस और कई तरह के सामाजिक-अनुसंधान संगठन बनाने का भी काम करेगा। जाहिर है, इसमें पादरियों और बिशप की नियुक्ति भी सीधे तौर पर वेटिकन के पास ही रहेगी। फिर क्यों न मौजूदा कैथोलिक चर्च में डाइवर्सिटी को लागू कर धर्मांतरित ईसाइयों को उचित भागीदारी दी जाए।

दलित कैथोलिक चर्च का विचार दलित ईसाइयों के साथ किसी विश्वासघात से कम नहीं है। इसका लाभ कम नुकसान ज्यादा दिखाई दे रहा है। अगर भविष्य में कभी किसी षड्यंत्र के तहत ऐसा होता है तो उससे धर्मांतरित ईसाइयों को क्या लाभ? कैथोलिक चर्च में दलित ईसाइयों की संख्या 60 प्रतिशत से भी ज्यादा है, इसलिए यह दलित चर्च ही है। भारत में सदियों से ऊँच-नीच, असमानता और भेदभाव का शिकार और सामाजिक हाशिए पर खड़े करोड़ों दलितों ने चर्च / क्रूस को चुना है लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि चर्च उनके जीवन स्तर को सुधारने की जगह अपने साम्राज्यवाद के विस्तार में व्यस्त है।

कैथोलिक चर्च के विशाल संसाधनों का लाभ दलित ईसाई इसलिए नहीं उठा पा रहे, क्योंकि वह चर्च के चक्रव्यूह में फँस गए हैं। ईसाई समाज में सामाजिक आंदोलन न के बराबर है। धर्मांतरित ईसाई पिछली कई शताब्दियों से चर्च के लिए अपना खून-पसीना बहा रहे हैं, और बदले में चर्च नेतृत्व से उन्हें मिला क्या? एक षड्यंत्र के तहत कैथोलिक बिशप कॉन्फ्रेंस ऑफ इंडिया और नेशनल काउंसिल फॉर चर्चेज इन इंडिया ने वर्ल्ड चर्च काउंसिल, वेटिकन और कई अंतरराष्ट्रीय मिशनरी संगठनों के सहयोग से पिछले पचास वर्षों से धर्मांतरित ईसाइयों को अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल करवाने का तथाकथित आंदोलन चला रखा है।

दरअसल चर्च की व्यवस्था के अंतर्गत उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने वालों को ही कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है। वस्तुतः यह सब इसलिए है क्योंकि मुख्य समस्या चर्च के दर्शन में निहित है। चर्च प्रार्थना करने और चर्च आने के लिए जिस तरह अपने अनुयायियों विशेषकर युवाओं को मोटिवेट करता है, उसकी कल्पना किसी और मत-पंथ में नहीं की जा सकती। छोटे बच्चों के लिए संडे स्कूल के नियमों को इतनी सख्ती से लागू किया जाता है कि वयस्क होने तक वे पूरी तरह चर्च की आज्ञाकारिता में ऐसे ढल जाते हैं

एक तरफ वह हिंदू दलितों को अपने बाड़े में लाने के प्रयास में लगे हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ वह इनके ईसाइयत में आते ही उन्हें दुबारा हिंदू दलितों की सूची में शामिल करने की माँग करने लगते हैं। अगर उन्हें अनुसूचित जातियों की श्रेणी में ही रखना है तो फिर धर्मांतरण के नाम पर ऐसी धोखाधड़ी क्यों? अपने आधे से ज्यादा अनुयायियों को अनुसूचित जातियों की श्रेणी में रखवा कर वह इनके विकास की जिम्मेदारी सरकार पर डालते हुए हिंदू दलितों को ईसाइयत का जाम पिलाने का ताना-बाना बुनने में लगे हुए हैं।

चर्च में भेदभाव के विरुद्ध खामोशी क्यों?

दरअसल चर्च की व्यवस्था के अंतर्गत उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने वालों को ही कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है। वस्तुतः यह सब इसलिए है क्योंकि मुख्य समस्या चर्च के दर्शन में निहित है। चर्च प्रार्थना करने और चर्च आने के लिए जिस तरह अपने अनुयायियों विशेषकर युवाओं को मोटिवेट करता है, उसकी कल्पना किसी और मत-पंथ में नहीं की जा सकती। छोटे बच्चों के लिए संडे स्कूल के नियमों को इतनी सख्ती से लागू किया जाता है कि वयस्क होने तक वे पूरी तरह चर्च की आज्ञाकारिता में ऐसे ढल जाते हैं कि चर्च व्यवस्था या कैनन लॉ पर उंगली उठाने को भी खुद ही पाप मानने लगते हैं।

एक आम ईसाई का जीवन तीन पांथिक प्रथाओं (बपतिस्मा, शादी और मृत्यु बाद दफनाने की क्रिया) पर टिका होता है। इन तीनों पर चर्च का नियंत्रण रहता है। जरा-सा भी इधर-उधर हुए तो आप पर सामाजिक बहिष्कार की तलवार लटकने की अंशका खड़ी हो जाती है। जहाँ तक चर्च के अंदर यौन शोषण, भ्रष्टाचार, अनैतिकता जैसी बुराइयों की बात है, इस पर आम ईसाई कोई बात ही नहीं करना चाहता। क्योंकि हर रविवार की प्रार्थना में उसे यही सिखाया जाता है कि चर्च किस तरह दुनिया में ईश्वर के राज्य को बनाने के काम में लगा हुआ है। कुल मिलाकर मंद स्वर में यह संदेश भी दिया जाता है कि हमें ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए जिससे चर्च की बदनामी हो और उसके काम में बाधा आए।

दरअसल, जिस तरह हिंदू समाज में समय-समय पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण हुआ, ऐसा भारत में ईसाइयों के साथ पिछली कई शताब्दियों से नहीं हुआ। उनके बीच कोई सुधारवादी धारा बह ही नहीं पाई। जबकि हिंदू समाज के बीच महर्षि दयानंद, राजा राम मोहन राय, वीर सावरकर, डॉ भीमराव आंबेडकर, ज्योतिबा फुले जैसे अनेक महापुरुषों ने अपना योगदान दिया है। आज पूरी दुनिया में चर्च के अनुयायी उसके एकाधिकार को चुनौती दे रहे हैं। यूरोप के चर्च में ताजी हवा के झोंके आने की उम्मीद बन रही है। वहीं भारत के चर्चों में ऐसी कोई सुगबुगाहट तक नहीं है। यहाँ पुरोहित वर्ग मस्त - अनुयायी पस्त और नन तस्त्र हैं।

आम ईसाइयों को चाहिए कि वह उन लोगों का साथ दें, जो चर्च ढाँचे में शोषित-उत्पीड़ित किए जा रहे हैं। भारतीय ईसाइयों के लिए यह दुखद है कि सैकड़ों

सालों से देश के अंदर चर्च में कोई सुधारवादी आंदोलन खड़ा ही नहीं हो सका। चर्च ने आम ईसाइयों पर अपना इतना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है कि वह किसी सुधारवादी आंदोलन को पनपने ही नहीं देता। गर्भ से लेकर कब्र तक वह आम ईसाइयों के जीवन को नियंत्रित कर रहा है।

धर्म प्रचार और विदेशी अनुदान पर सरकारी नजरिया

धर्मांतरण विरोधी विधेयक को लेकर कर्नाटक में चर्च नेतृत्व ने भारतीय जनता पार्टी की बसवराज बोम्मई सरकार के विरुद्ध जिस तरह मोर्चा खोला वह हैरान करने वाला था। कर्नाटक सरकार का मानना था, कि धर्मांतरण के खिलाफ मौजूदा कानून असरदार नहीं है, इसे लागू करना कठिन है। दिलचस्प बात ये है कि प्रस्तावित कानून से मुसलमान या सिख या जैन जैसे अल्पसंख्यक समूह चिंतित नहीं थे। केवल ईसाई मिशनरी ही चिंतित थे। कुछ साल पहले अपने को हिंदू समाज से अलग बताने और अपने लिए अल्पसंख्यक का दर्जा माँगने वाला लिंगायत समुदाय भी राज्य में धर्मांतरण विरोधी कानून बनाने के समर्थन में था। कर्नाटक सरकार का मानना था कि धर्मांतरण केवल उत्तरी कर्नाटक के जिलों में ही नहीं हो रहा बल्कि पूरे राज्य में हो रहा है। वहीं दूसरी ओर चर्च नेतृत्व का मत था कि भारत में ईसाइयों की आबादी सिर्फ 2.1 फीसदी है, जबकि कर्नाटक में यह हिस्सा 1.87 फीसदी से भी कम है अगर धर्मांतरण हो रहा है, तो हम बढ़ क्यों नहीं रहे हैं।

हाल में केंद्रीय गृह मंत्रालय ने कई बड़े ईसाई मिशनरी संगठनों को विदेशी अनुदान विनियमन अधिनियम के तहत मिली अनुदान लेने की अनुमति रद्द कर दी। इनमें से अधिकतर संगठन उत्तर और पूर्वोत्तर के राज्यों में सक्रिय थे। सरकार के मुताबिक वह विदेशी अनुदान का दुरुपयोग कर रहे थे। इसके विरोध में बड़े-बड़े क्रिश्चियन संगठनों ने इस फैसले पर अंतरराष्ट्रीय मंचों पर अपना विरोध जताया है। इसी के परिणामस्वरूप कई अंतरराष्ट्रीय संगठनों ने भारत में कथित रूप से घटती धार्मिक स्वतंत्रता पर कई रिपोर्ट जारी की है। इन वर्गों का एक बड़ा हिस्सा पहले से ही भारत की वैश्विक छवि को धूमिल करने का अभियान चला रहा है। दिसंबर महीने में ही 'द न्यू यॉर्क टाइम्स' में प्रकाशित लेख 'इंडिया'ज क्रिश्चियंस अटैक्ड अंडर एंटी कनवर्जन लॉ अरेस्ट, बीटिंग ऐंड सीक्रेट प्रेयर्स: इनसाइड द पर्सीक्यूशन ऑफ इंडिया'ज क्रिश्चियंस' से भारतविरोधी दुष्प्रचार को समझा जा सकता है।

भारत की स्वतंत्रता के बाद संसद ने कई धर्मांतरण विरोधी बिल पेश किए, लेकिन कोई भी प्रभाव में नहीं आया। सबसे पहले 1954 में इंडियन कन्वर्जन (रेग्युलेशन एंड रजिस्ट्रेशन) बिल पेश किया गया था। इसमें मिशनरियों के लाइसेंस और धर्मांतरण को सरकारी अधिकारियों के पास रजिस्टर कराने की बात कही गई थी। इस बिल को लोकसभा में बहुमत नहीं मिला। इसके बाद 1960 में पिछड़ा समुदाय (धार्मिक संरक्षण) विधेयक लाया गया। इसका मकसद था कि हिंदुओं को 'गैर-भारतीय धर्मों' में परिवर्तित होने से रोका जाए। विधेयक की परिभाषा के अनुसार, इसमें इस्लाम, ईसाई, यहूदी और पारसी धर्म शामिल थे।

इसके बाद 1979 में फ्रीडम ऑफ रिलीजन बिल आया। इसमें "धर्मांतरण पर आधिकारिक प्रतिबंध" की बात कही गई थी। राजनैतिक समर्थन न मिलने की वजह से ये बिल संसद में पास नहीं हो सके। 2015 में कानून मंत्रालय ने राय दी थी कि जबरन और धोखाधड़ी वाले धर्मांतरण के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर कानून नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि कानून और व्यवस्था राज्य का विषय है।

पिछले कुछ वर्षों में कई राज्यों ने जबरन, धोखाधड़ी से या प्रलोभन देकर ध र्म परिवर्तन को प्रतिबंधित करने के लिए "फ्रीडम ऑफ रिलीजन" कानून लागू किया है। रिसर्च करने वाले संगठन पीआरएस लेजिस्लेटिव रिसर्च ने हाल ही में कई राज्यों में मौजूदा धर्मांतरण विरोधी कानूनों की तुलना करते हुए एक रिपोर्ट जारी की है। "धार्मिक स्वतंत्रता" से जुड़े कानून वर्तमान में आठ राज्यों में लागू हैं- ओडिशा (1967), मध्य प्रदेश (1968), अरुणाचल प्रदेश (1978), छत्तीसगढ़ (2000 और 2006), गुजरात (2003), हिमाचल प्रदेश (2006 और 2019), झारखंड (2017) और उत्तराखंड (2018)।

इसके अलावा, तमिलनाडु ने 2002 में और राजस्थान ने 2006 और 2008 में इसी तरह का कानून पारित किया था। हालांकि, 2006 में ईसाई अल्पसंख्यकों के विरोध के बाद तमिलनाडु के कानून को निरस्त कर दिया गया था, जबकि राजस्थान के विधेयकों को राज्यपाल और राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिली।

चर्च नेतृत्व ने उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात, झारखंड और हिमाचल प्रदेश में बने इसी तरह के धर्मांतरण विरोधी कानूनों को देश की अदालतों में चुनौती दी है। चर्च नेतृत्व का मानना है कि उत्तर प्रदेश का कानून भावना और चरित्र दोनों लिहाज से असंवैधानिक है। धर्म परिवर्तन करवाना सही नहीं है, पर संविधान में सभी धर्म के प्रचार की आजादी है। पहले के धर्मांतरण विरोधी कानून धर्म परिवर्तन करवाने वाले के लिहाज से बने हुए थे, लेकिन हिमाचल प्रदेश और गुजरात के कानून धर्म बदलने वालों से सवाल पूछते हैं। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश के नए कानून के अनुसार यदि कोई धर्मांतरण पर आपत्ति दर्ज करता है तो धर्म में बदलाव नहीं माना जाएगा। सरकार

भारत की स्वतंत्रता के बाद संसद ने कई धर्मांतरण विरोधी बिल पेश किए, लेकिन कोई भी प्रभाव में नहीं आया। सबसे पहले 1954 में इंडियन कन्वर्जन बिल पेश किया गया था। इसमें मिशनरियों के लाइसेंस और धर्मांतरण को सरकारी अधिकारियों के पास रजिस्टर कराने की बात कही गई थी। इस बिल को लोकसभा में बहुमत नहीं मिला। इसके बाद 1960 में पिछड़ा समुदाय विधेयक लाया गया। इसका मकसद था कि हिंदुओं को 'गैर-भारतीय धर्मों' में परिवर्तित होने से रोका जाए

धर्म बदलने के किसी के अधिकार में सीधे हस्तक्षेप कर रही है।

विदेशी अनुदान का तथाकथित धर्मांतरण के लिए उपयोग हमेशा से ही विवादों में रहा है। पाश्चात्य ईसाई देशों की सरकारें धर्मांध कट्टरपंथी ईसाई मिशनरी तत्वों को धर्म परिवर्तन के नाम पर एशिया और अफ्रीका जैसे देशों को निर्यात करती रहती हैं। इससे उन्हें दो तरह के फायदे होते हैं।

एक तो इन कट्टरपंथी तत्वों का ध्यान गैर-ईसाई देशों की तरफ लगा रहता है, जिस कारण वे अपनी सरकारों के लिए कम दिक्कतें पैदा करते हैं और दूसरे, जब भारत जैसे देशों में विदेशी अनुदान से धर्मांतरण होता है तो धर्मांतरित लोगों के जरिए विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ इकट्ठा करने और साथ ही सरकारी नीतियों पर प्रभाव डालने में आसानी होती है।

कुछ साल पहले भारत-रूस के सहयोग से स्थापित कुडनकुलम परमाणु संयंत्र से नाखुश कुछ विदेशी ताकतों ने इस परियोजना को अटकाने के लिए वर्षों तक मिशनरी संगठनों का इस्तेमाल कर धरने-प्रदर्शन करवाए। तत्कालीन यूपीए सरकार में मंत्री वी नारायणसामी ने यह आरोप लगाया था कि कुछ विदेशी ताकतों ने इस परियोजना को बंद कराने के लिए धरने-प्रदर्शन कराने के लिए तमिलनाडु के एक बिशप को करोड़ों रुपये दिए थे। इस मामले में विदेशी अनुदान प्राप्त कर रहे चार एनजीओ पर कार्रवाई भी की गई थी। यूपीए सरकार ने जब इस मामले में कार्डिनल ओसवाल्ड ग्रेसियस से सहायता ली, तभी यह परियोजना आगे बढ़ पाई।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण वेदांत द्वारा तूतीकोरिन में लगाए गए स्टरलाइट कॉपर प्लांट का है। इस प्लांट को बंद कराने में भी चर्च का हाथ माना जाता है। 8 लाख टन सालाना ताँबे का उत्पादन करने में सक्षम यह प्लांट अगर बंद न होता, तो भारत ताँबे के मामले में पूरी तरह आत्मनिर्भर हो गया होता। यह कुछ देशों को पसंद नहीं आ रहा था और इसलिए उन्होंने कथित मिशनरी संगठनों का इस्तेमाल कर पादरियों द्वारा यह दुष्प्रचार कराया कि यह प्लांट पूरे शहर की हर चीज को जहरीला बना देगा। इस दुष्प्रचार के बाद हिंसा भड़की और पुलिस फायरिंग में 13 लोगों की मौत हो गई। परिणाम यह हुआ कि यह प्लांट बंद कर दिया गया। यह अभी भी बंद है और भारत को ताँबे का आयात करना पड़ रहा है।

धर्म प्रचार और बढ़ता तनाव

धर्म जब तक निजी अनुभव तक सिमित रहे धर्म रहता है लेकिन जब धर्म के नाम के सहारे साम्राज्य खड़ा किया जाने लगे जबदस्ती या बहला फुसलाकर झुण्ड तैयार किये जाने लगे, तब वह धर्म न होकर संस्थागत रूप धारण कर लेता है। और निजी अनुभव की दुनिया से अलग हटकर संस्था का रूप लेते ही धर्म शासन जैसा बनने लगता है।

दरअसल पिछले सात दशक से चर्च ने धर्मांतरित ईसाइयों के लिए विकास का कोई मॉडल ही नहीं अपनाया, उसने उन्हें अपने साम्राज्यवाद के विस्तार में औजार की तरह इस्तेमाल किया है। आज ईसाई युवाओं में सामाजिक एवं राजनैतिक मामलों को लेकर कोई जागरूकता नहीं है। चर्च लीडर युवाओं के बीच सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन को नहीं रख पा रहे हैं, केवल चर्च दर्शन से अवगत करा रहे हैं। इस कारण ही बड़ी संख्या में ईसाई युवा स्वतंत्र धार्मिक प्रचारक बन रहे हैं।

इस कारण तेजी से छोटे-छोटे चर्च भी खड़े हो रहे हैं, ऐसे छोटे-छोटे स्वतंत्र चर्चों के पीछे एक पूरा अंतरराष्ट्रीय नेटवर्क काम करता है। दो - तीन साल पहले उत्तर प्रदेश के ग्रामीण इलाकों के अधिकतर चर्च तनाव के चलते बंद हो गए थे या करवा दिए गए। इन बंद कराए गए चर्चों को दोबारा खुलवाने के लिए अमेरिकी दूतावास आगे आया और उसने बंद पड़े सभी चर्च फिर से खुलवा दिए। स्वतंत्र चर्च कुकुरमुत्ते की तरह उगते जा रहे हैं।

इनमें प्रचार करने के लिए अंतरराष्ट्रीय ईसाई संगठन बड़ी संख्या में विदेशी नागरिकों विशेषकर युवाओं को भेजते हैं जिसका स्थानीय कलीसिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विदेश से आने वाले अनेक लोग भारत को ही अपनी कर्मभूमि मानकर यहीं रह जाते हैं। ओडिशा के ग्राहम स्टेंस और ग्लैडिस स्टेंस भी ऐसे ही मिशनरी थे (ग्राहम स्टेंस और उसके बच्चों के साथ जो अमानवीय कृत्य हुआ उसकी कोई भी सभ्य समाज इजाजत नहीं देता) श्रीमती ग्लैडिस स्टेंस अपने अनुभव में लिखती हैं कि 1981 में ऑपरेशन मोबिलाइजेशन के तहत जब वह पंजाब, बिहार, ओडिशा की गाँव-गाँव की यात्रा कर रही थीं, तभी ओडिशा में उनकी मुलाकात ग्राहम स्टेंस से हुई थी। हालाँकि ऑस्ट्रेलिया में उन दोनों के घर तीस कि. मी. की दूरी पर ही थे, पर वहाँ वे कभी नहीं मिले थे।

भारत में जिस तेजी से छोटे-छोटे चर्च खड़े किए जा रहे हैं, वह कुछ-कुछ चीनी मॉडल जैसा ही है। चीन में ईसाई धर्म प्रचार करने पर पाबंदी है। वहाँ बड़े चर्च सरकारी नियंत्रण में काम करते हैं। ऐसे चर्च धर्म परिवर्तन पर कोई जोर नहीं देते। अपना संख्या बल बढ़ाने के मकसद से मिशनरी सरकार से छिप कर घर कलीसियाएँ चलाते हैं। परंतु भारत में ऐसी कोई बात नहीं है। यहाँ मेन-लाइन के लाखों चर्च हैं जिन्हें धर्म प्रचार करने, अंतरराष्ट्रीय मिशनरियों से जुड़े रहने व सहायता पाने और देश में अपने संस्थान चलाने की पूरी स्वतंत्रता है। इसके बावजूद अगर स्वतंत्र चर्च कुकुरमुत्ते की तरह उगते जा रहे हैं, तो इस पर अवश्य

भारत में जिस तेजी से छोटे-छोटे चर्च खड़े किए जा रहे हैं, वह कुछ-कुछ चीनी मॉडल जैसा ही है। चीन में ईसाई धर्म प्रचार करने पर पाबंदी है। वहाँ बड़े चर्च सरकारी नियंत्रण में काम करते हैं। ऐसे चर्च धर्म परिवर्तन पर कोई जोर नहीं देते। अपना संख्या बल बढ़ाने के मकसद से मिशनरी सरकार से छिप कर घर कलीसियाएँ चलाते हैं। परंतु भारत में ऐसी कोई बात नहीं है। यहाँ मेन-लाइन के लाखों चर्च हैं जिन्हें धर्म प्रचार करने, अंतरराष्ट्रीय मिशनरियों से जुड़े रहने व सहायता पाने और देश में अपने संस्थान चलाने की पूरी स्वतंत्रता है

ही विचार करने की जरूरत है। क्योंकि यह भारतीय ईसाइयों के हित में भी नहीं है।

भारत पूरे विश्व में 'विधिवता में एकता, सभी धर्मों के प्रति आदर तथा अलग-अलग धर्मों के लोगों के बीच परस्पर सहनशीलता, सह अस्तित्व की भावना की दृष्टि से गौरवशाली एवं अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।' भारत के बहुसंख्यक हिंदू समुदाय की विचारधारा में असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ प्रत्येक नागरिक एक दूसरे की धार्मिक स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का सम्मान करता है।

ईसाई समुदाय के प्रति घटी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की जाँच के लिए सरकार द्वारा गठित विभिन्न आयोगों ने इसके पीछे चर्च के साम्राज्यवादी रैवये की तरफ इशारा किया है। ऐसा ही मत देश का सुप्रीम कोर्ट भी व्यक्त कर चुका है। ईसाई मत के प्रचार के लिए अपनाए जा रहे तरीकों और दूसरों की आस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप तनाव बढ़ाने के बड़े कारण हैं। जिसे हम खुद रोक कर सौहार्द का वातावरण तैयार कर सकते हैं। पिछले कुछ सालों से 'घर वापसी' जैसे कार्यक्रमों ने 'धर्मांतरण' के मुद्दे को बहस में ला दिया है। हालाँकि घर वापसी के विरोधी ये सवाल उठाते रहे हैं कि हिंदू धर्म में वापस आए लोगों की जाति क्या होगी।

जवाहर लाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में ही इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि यदि अनुसूचित जाति का कोई व्यक्ति धर्मांतरण करके हिंदू धर्म का त्याग कर देता है तथा पुनः हिंदू धर्म स्वीकार कर लेता है तो उसे मूल अनुसूचित जाति का सदस्य माना जाएगा या नहीं। सरकार ने निर्णय लिया कि ऐसे व्यक्ति के पुनः मतांतरण को मूल जाति में परिवर्तन माना जाएगा तथा वह अनुसूचित जातियों के सदस्यों के विशेषाधिकार और सहायता का पात्र होगा, मूलतः जिस अनुसूचित जाति से संबंधित था।

जाहिर है कि संविधान और सरकार ने इसे धर्मांतरण नहीं 'घर वापसी' की ही संज्ञा दी थी। कुछ लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) पर फब्तियाँ कसने के अंदाज में यह प्रश्न उठाते हैं कि वह उन्हें हिंदू समाज में कहाँ फिट करेगा, उनका हिंदू समाज में क्या दर्जा होगा। इसका समाधान भी नेहरू सरकार का राज्यों को

दलित और आदिवासी समाज के अंदर ईसाई मिशनरियों की बहुत गहरी पैठ बन चुकी है। भारतीय संविधान हमें अंतःकरण की स्वतंत्रता की गारंटी देता है, संविधान किसी भी धर्म को मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार भी देता है। लेकिन धर्मप्रचार और धर्मांतरण के बीच की लक्ष्मण रेखा को समझने की जरूरत है। यदि धर्मांतरण कराने का प्रमुख लक्ष्य लेकर घूमने वाले संसाधनों से लैस संगठित संगठनों को खुली छूट दी जाए तो आप घर वापसी जैसे अभियानों को कैसे रोक सकते हैं

लिखा पत्र आसानी से कर रहा है।

दलित और आदिवासी समाज के अंदर ईसाई मिशनरियों की बहुत गहरी पैठ बन चुकी है। भारतीय संविधान हमें अंतःकरण की स्वतंत्रता की गारंटी देता है, संविधान किसी भी धर्म को मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार भी देता है। लेकिन धर्मप्रचार और धर्मांतरण के बीच की लक्ष्मण रेखा को समझने की जरूरत है। यदि धर्मांतरण कराने का प्रमुख लक्ष्य लेकर घूमने वाले संसाधनों से लैस संगठित संगठनों को खुली छूट दी जाए तो आप घर वापसी जैसे अभियानों को कैसे रोक सकते है। एक दशक पहले ऐसे ही धर्मांतरण को लेकर ओडिशा के कंधमाल जिले में भयानक दंगे हुए थे जिसमें दर्जनों लोगों को अपनी जान गवानी पड़ी और सैकड़ों करोड़ रुपए की हानि उठानी पड़ी। इसके बावजूद ओडिशा में धर्मांतरण लगातार जारी है। कंधमाल को लेकर हाल ही में चर्च समर्थकों द्वारा प्रकाशित पुस्तक अर्ली क्रिश्चियन आफ ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी: स्टोरी ऑफ इनक्रेडिबल क्रिश्चियन फ्रॉम कंधमाल जंगल (Early Christians of 21st Century: Stories of Incredible Christian Witness from Kandhamal Jungle) में दावा किया गया है कि हिंसा के बाद हिंदू समुदाय के लोग किस तरह चर्च की शरण में आ रहे हैं।

आत्ममंथन करने की जरूरत

आज देश के अंदर ईसाई समाज के प्रति संदेह का वातावरण बन गया है। ऐसा माहौल किसी भी समाज के विकास को रोक देता है। हमारी पहचान केवल धर्मांतरण कराने वाले तक सीमित होकर रह गई है। हिंदू संगठन ही नहीं, सिख और कहीं-कहीं मुस्लिम समाज भी ईसाई संगठनों पर उंगली उठा रहा है। भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष देश में जहाँ शताब्दियों से ईसाई समुदाय आगे बढ़ रहा है, वहाँ ऐसा माहौल हमें आत्ममंथन के लिए विवश करता है। समय की माँग है कि हम अपनी आस्था के साथ-साथ दूसरे मत-पंथ को मानने वालों की आस्था का भी सम्मान करें। मुझे महाराष्ट्र के एक ईसाई ब्राह्मण कवि नारायण वामन तिलक की एक कविता याद आ रही है, और वह आज भी कितनी प्रासंगिक है। नारायण वामन तिलक लिखते हैं --------

"मेरी मातृभूमि तू कितनी भाग्यशाली और अनुगृहीत है,
तेरे गर्भ से कितने महान ऋषि-मुनि, साधु-संत निकलते हैं।
मेरे मसीही होने पर भी, कोई मुझ पर छींटाकशी नहीं करता,
न ही मुझे ऊटपटांग ऊलजलूल प्रश्नों का सामना करना पड़ता है।
मेरे गुरु - 'ईसा' का सम्मान करने में उन्हें आनंद आता है और
मेरे विषय में, वे कहते हैं कि यह हमारा भाई और बंधु है।"

यही समय है जब ईसाई समुदाय को स्वयं का सामाजिक आकलन करना चाहिए, ताकि पता चले कि यह समुदाय अपनी मुक्ति से वंचित क्यों है। ईसाइयों को अब इस बात पर आत्ममंथन करने की जरूरत है कि उनके रिश्ते दूसरे मत-पंथों के अनुयायियों से सहज कैसे बने रह सकते हैं और भारत में चर्च अपने अनुयायियों के जीवन स्तर को कैसे सुधार सकता है।

संविधान सभा में अल्पसंख्यक प्रश्न

4 नवंबर 1948 को प्रारूपण समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमाराव रामजी अंबेडकर ने संविधान सभा में 'विधान के मसौदे पर प्रस्ताव' प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव के समर्थन में उनका जो भाषण हुआ वह अद्‌भुत विद्वत्ता एवं अनुपम वक्तृता का उदाहरण था। अतः सभी ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की, लेकिन अल्पसंख्यकों के विषय में उनके इस वक्तव्य के अंश :

"मेरा यह मत है कि अल्पसंख्यकों के संरक्षण की व्यवस्थाएँ रखी गई हैं। इसके लिए मसविदा समिति जिम्मेदार नहीं है। इसे तो विधान परिषदों के निर्णयों के अनुसार चलना था। .....और साथ ही मार्ग ऐसा भी हो जिससे कि एक दिन अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों ही वर्ग आपस में मिलजुलकर एक हो जाएँ। .....दो बातें मैं उन कट्टर प्राचीन पंथियों को कहना चाहता हूँ जिन्होंने अल्पसंख्यकों के विरुद्ध एक हठधर्मिता का भाव अपना लिया है। एक बात उनसे यह कहना चाहता हूँ कि अल्पसंख्यक एक भयंकर विस्फोटक पदार्थ के समान होते हैं, जो अगर फटा तो सारे राजकीय ढाँचे को तहस-नहस कर सकता है। यूरोप का इतिहास इस बात का एक ज्वलंत प्रमाण है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि भारत का अल्पसंख्यक समुदाय इस बात पर सहमत हो गया है कि वह अपने अस्तित्व को बहुसंख्यक समुदाय को सौंप दे। आयरलैंड का विभाजन रोकने के लिए जो बातचीत चली थी उसके सिलसिले में श्री रेडमंड ने मि. कारसन से यह कहा था; प्रोटेस्टेंट अल्पसंख्यकों के लिए आप जो भी संरक्षण चाहते हों माँग लें, किंतु आयरलैंड को हमें अखंड रखना चाहिए। इसके जवाब में कारसन ने कहा था "चूल्हे में जाएँ आपके संरक्षण ये आपसे शासित होना नहीं चाहते।" भारत के किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय ने यह रुख नहीं अपनाया है उन्होंने बहुसंख्यक समुदाय के शासन को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर लिया है, यहाँ का बहुसंख्यक वर्ग संप्रदाय के आधार पर बहुसंख्यक है, न कि किसी राजनैतिक सिद्धांत के आधार पर। बहुसंख्यक वर्ग का यह फर्ज है कि अल्पसंख्यकों के प्रतिकूल वह कोई भेदभाव न बरते। बहुसंख्यक वर्ग को अपने इस फर्ज का ख्याल रखना चाहिए। अल्पसंख्यक वर्ग इसी प्रकार अपना पृथक अस्तित्व बनाए रहेगा या अपने को राष्ट्र में विनिमार्जित कर देगा। यह बात निर्भर करती है बहुसंख्यक वर्ग के व्यवहार पर। जिस क्षण बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभाव बरतने कि आदत छोड़ देगा, उसी क्षण अल्पसंख्यकों के अस्तित्व का आधार जाता रहेगा और वे लुप्त हो जाएंगे।"

माननीय डा. बी. आर. अंबेडकर,
4 नवंबर, 1948, पृ. 77-78

पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कई सदस्य इसके पक्ष में थे लेकिन अधिकतर इस वक्तव्य के विरुद्ध थे। दोनों पक्षों के चुने हुए अंशः

"श्रीमान्, यदि हमारे अल्पसंख्यक वास्तव में इसी सिद्धांत पर दृढ़ रहते, तब तो भारत का और ही इतिहास होता। विगत 2 वर्षों में जो कुछ हुआ, उसके पश्चात भी क्या हम यह कह सकते हैं कि किसी अल्पसंख्यक वर्ग ने इस हठ को नहीं पकड़ा? गत 18 मास में जो दुखद घटनाएँ ही हुई, वे सब इसी कारण से तो हुई। किसी विषेश अल्पसंख्यक वर्ग ने यह सिद्धांत अपनाया और कहा कि हम बहुसंख्यकों के शासन में नहीं रहना चाहते और जो इस सिद्धांत के विरोधी हैं, वे जहन्नुम रसीद हों। यदि डॉ. अंबेडकर का उल्लेख 15 अगस्त 1947 ई. के बाद भारत से है तब तो मुझे कुछ कहना ही नहीं है। .....अंततः पाकिस्तान बना और हमें गत 18 मास की दुखद घटनाएँ देखनी पड़ीं यह सब तो इसी कारण से हुआ कि एक विशेष संस्था ने यह रट लगाई: "हमें संरक्षण नहीं चाहिए, हम तो अपना राज्य अलग बनाना चाहते हैं।" .....यदि यही भावना हममें बनी रहती, तो हम अखंड भारत, एक देश, एक राज्य और एक राष्ट्र के रूप में रहते। इसी कारण मैं नहीं समझ सकता कि डा. अंबेडकर किस आधार पर यह कहते हैं कि भारत के किसी अल्पसंख्यक वर्ग ने इस हठ को नहीं पकड़ा।"

श्री एच. बी. कामत,
5 नवंबर, 1948, पृ. 119-120

"मेजोरिटी पार्टी को माइनारिटी पार्टी का लिहाज रखना चाहिए। मैं कहता हूँ we do not want them आपने constitutions में रखा है कि मुसलमानों के लिए 14 फीसदी सीट्स रिजर्व रखी जाए। आप अब तक यह समझते हैं कि आप 86 फीसदी हैं और मुसलमान 14 फीसदी हैं। यह जब तक आपमें कम्युनलिज्म है, उस वक्त तक कुछ नहीं हो सकता। आप मुसलामानों को माइनारिटी में क्यों कहते हैं? मुसलमान माइनारिटी में उस वक्त तक है, जब तक आप इनको कम्युनल शक्ल में पेश करें। जब यह पोलिटिकल पार्टी के तौर पर या फर्ज कीजिए कि हम इंडिपेंडेंट कम्युनिस्ट के तौर पर या सोशलिस्ट के तौर पर आए और जब कोलिसन पार्टी बनाएंगे, तो वह 'ऐज ए होल' सबके मुकाबले में होंगे। .....इस लिहाज से मैं कहूँगा कि आप नॉन-कम्युनिल बेसेज पर कांस्टीटुएंट असेंबली से कांस्टीट्यूशन पास करा लें।"

मौलाना हसरत मोहानी,
4 नवंबर, 1948, पृ. 92-93

"मेरे विचार से हमारे अल्पसंख्यक वास्तविक अर्थ में अल्पसंख्यक नहीं हैं और न वे उस अर्थ में अल्पसंख्यक वर्ग अथवा समूह माने जा सकते हैं जो कि राष्ट्रसंघ द्वारा स्वीकृत हैं। हम सब एक जाति के हैं। हम सब इस देश में सैकड़ों, हजारों वर्षों से रह रहे हैं। हम सबकी संस्कृति, रहन-सहन और विचार एक से हैं। अत: मैं यह नहीं समझ सका कि अध्याय 14 में इन लोगों को विशेष अधिकार किस प्रयोजन से दिए गए हैं। इनका फल यह होगा कि विधि-विरचित अल्पसंख्यक वर्ग पैदा हो जाएंगे और यह कहना कि यह सब तो 10 वर्ष तक ही रहेगा, भूतकाल के उपदेशों को अनसुना कर देना है। अतीत काल में क्या हुआ? आपने इसी प्रकार से कुछ विशेष अधिकार मुसलमानों को दिए और यह आशा की कि वे विशेषाधिकार कालांतर में स्वत: ही मिट जाएंगे, और मुस्लिम संप्रदाय इन विशेष अधिकारों की निरर्थकताओं को समझ जाएगा और इन विशेषाधिकारों का परित्याग कर देश की सामान्य जनता में घुल-मिल जाएगा। पर उसका फल देश का विभाजन हुआ। .....लेकिन राज्य संस्था में विभाजन स्थापित करना और राष्ट्र में विभाजन की नींव डालना राष्ट्र की सदौन्नति के लिए घातक होगा और हमारे तथा हमारे वंशजों के लिए अत्यंत हानिकारक होगा।"

श्री कृष्ण चन्द्र शर्मा,
5 नवंबर, 1948, पृ. 138-139

"स्थानों के रक्षण, सहित संयुक्त निर्वाचन से अल्पसंख्यकों का कोई लाभ नहीं है। यह उनको अवश्य हानि पहुँचाएगा। स्थानों के रक्षण सहित संयुक्त निर्वाचन में जिस प्रतिनिधि का चुनाव होगा, वह उन अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधि नहीं होगा, जिनको रक्षण दिया गया है। कोई लाभकारी धर्मपरिवर्तक या बहुमत प्राप्त दल का किराए का टट्टू भी बहुसंख्यक वर्ग की वोटों द्वारा आ सकता है। .....अल्पसंख्यकों को संयुक्त निर्वाचन के अंतर्गत स्थानों के संरक्षण का परित्याग कर देना चाहिए।"

काजी सैयद करीमुद्दीन,
5 नवंबर, 1948, पृ. 160-161

"मुसलमानों के लिए स्थान रक्षण कोई न्याय नहीं है। दो राष्ट्रों के सिद्धांत के आधार पर और उस सिद्धांत में निहित सब परिणामों के सहित देश का विभाजन करवाने के पश्चात्, संविधान में मौलिक अधिकारों के प्रावधान के पश्चात् और इनमें से कुछ अधिकार न्याय है, संविधान में शासन संबंधी निदेशक सिद्धांतों के रखे जाने के पश्चात्, संविधान में वयस्क मताधिकार के प्रवाहित होने के पश्चात्, तथा यह सब करने के पश्चात् भी क्या कोई व्यक्ति यह आवश्यक समझता है कि संरक्षित स्थानों के लिए भी प्रावधान किया जाए। सैद्धांतिक दृष्टि से मैं ऐसे प्रावधान रखने का विरोधी हूँ। मेरे मुसलमान मित्र मुझे गलत न समझें।"

पं. लक्ष्मीकान्त मैत्र,
5 नवंबर, 1948, पृ. 171

"सभापति माननीय सरदार वल्लभभाई पटेल के प्रति बहुसंख्यक दल ने जिस संतोषजनक और न्यायोचित ढंग से अल्पसंख्यकों को ये अधिकार प्रदान किए हैं, उसके लिए सर्वोत्कृष्ट रूप में अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ। .....मसौदे में जिस रूप में इन अधिकारों को रखा गया है, उसमें इस आदरणीय सभा के विचार-विमर्श के फलस्वरूप कोई परिवर्तन न होने दिया जाएगा।"

डा. जोसेफ आलबन डी. सौजा,
6 नवंबर, 1948, पृ. 195

"जिस प्रकार बहुसंख्यक संप्रदाय ने अल्पसंख्यकों के प्रश्न को हल किया है, उसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं और मैं यह कहूँगा कि इस संबंध में किसी के लिए भी शिकायत करना उचित नहीं है। जहां तक मेरे संप्रदाय (पारसी) का संबंध है, यद्यपि जगहें सुरक्षित रखने के लिए हमसे प्रस्ताव किया गया था, परन्तु हमने धन्यवाद देकर इसे अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार कल काजी सय्यद करीमुद्दीन ने जगहों के संरक्षण को हटा देने पर जोर दिया। यह वक्तव्य, यद्यपि यह बहुत देर में दिया गया, स्वागत के योग्य है। जब बहुसंख्यक संप्रदाय ने जगहें सुरक्षित रखने का प्रस्ताव पारसी संप्रदाय के सम्मुख रक्खा, तो हमने कहा - जी नहीं, आपको धन्यवाद। हमें वह नहीं चाहिए। इसी प्रकार श्रीमान् मैं आशा करता हूँ कि अन्य समुदाय भी बहुसंख्यकों की भेंट को धन्यवाद देकर अस्वीकार कर देंगे।"

श्री आर. के. सिंधवा,
6 नवंबर, 1948, पृ. 206

"एक चीज यह है कि माइनारिटी और मैजारिटी दोनों में भेद रखने की जरूरत नहीं की गई है और जो सिटीजन हैं, उसको आम तौर पर सिटीजन समझा गया है। .....तो इसका मानी यह है कि अभी तक जो कम्युनल स्कूल्स और कम्युनल एजुकेशन इंस्टीट्यूशंस हैं, उनको चलाने की इसमें गुंजाइश रखी गई है। मैं समझता हूँ कि इस आजादी के जमाने में जब कि हम माइनारिटी और मैजारिटी दोनों को भाई-भाई की तरह रहना चाहिए, उस वक्त इस तरह की गुंजाइश रखना कोई ठीक बात नहीं है। ग्रांट इन एड तो यही बात कहती है।"

श्री जयनारायण व्यास,
6 नवंबर, 1948, पृ. 212

"मुझे विश्वास है कि यदि अल्पसंख्यक अपने संरक्षणों का समर्पण कर दें, तो उनकी स्थिति पहले से सुंदर तथा सशक्त हो जाएगी और उन्हें बहुसंख्यकों का कोई भय न रह जाएगा। यदि वे संरक्षणों को समर्पित कर दें और बहुसंख्यकों से नाता जोड़ लें और उनसे एक प्राण होकर मिल जाएँ, तो भारत पहले से कहीं शक्तिशाली हो जाएगा और राष्ट्रीयता के अपने आदर्श को हम शीघ्र ही प्राप्त कर लेंगे।"

श्री बी. ए. मांडलोई,
6 नवंबर, 1948, पृ. 216

"श्रीमान्, मेरी यह धारणा है कि मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों के संबंध में सुरक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जहां तक सम्पत्ति, सामाजिक प्रभाव और समाज में स्थान तथा अन्य बातों का संबंध है, सारी आबादी बहुत कुछ एक समान है। वास्तव में इनमें से कुछ संप्रदाय बहुसंख्यक संप्रदाय से सुसंपन्न हैं। ....यदि हम पृथक्करण की मनोवृत्ति का अन्त करना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम अपने ही कार्य से पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन न दें।"

पं. ठाकुरदास भार्गव,
6 नवंबर, 1948, पृ. 224-225

"माइनारिटीज के लिए या कुछ सम्प्रदायों, रिलीजियंस के लिए संरक्षित कर दें, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं नहीं समझता कि यह चीज जो मींस (साधन) है, यह कहाँ तक ठीक है। क्या इन मींस का असर ध्येय पर नहीं पड़ेगा? मैं तो समझता हूँ कि हमारा जो यह स्वप्न है कि देश के अंदर एक निधर्मी (सेक्युलर) सरकार बनाएँ, वह स्वप्न ही रह जाएगा, अगर आज भी हमने इस तरह का फैसला किया कि संरक्षण जो मिले, वह धर्म के आधार पर मिले। आज देश की हालत को देखें तो जहाँ तक कि मुसलमान मजहब के मानने वालों का ताल्लुक है, उनकी तरबीयत और शिक्षा और उनकी ताकत का हम सबूत देख चुके हैं। हमने यह देखा कि उन्होंने अपने आर्गेनाईजेशन की ताकत से और फारेन (विदेशी) ताकत की मदद से देश के दो हिस्से कराए।"

चौधरी रणवीर सिंह,
6 नवंबर, 1948, पृ. 248

"जिस रियासत से मैं आया हूँ वहाँ का जो मुझे निजी अनुभव है, उसके आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि गत 25 या 30 वर्षों से वहाँ जो पृथक निर्वाचन नहीं स्वीकार किया गया और मुसलमानों के लिए संरक्षित स्थान नहीं दिए गए, इसका नतीजा रियासत की जनता के लिए बहुत ही अच्छा रहा है। इसके कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच वहाँ सदा सद्भाव रहा है। और 1946-47 के अशांत काल में भी वहाँ सदा दोनों जातियों में पूरी मैत्री बनी रही और आपस में सिर फोड़ने की नौबत कहीं नहीं आई।"

श्री हिम्मतसिंह के. माहेश्वरी,
6 नवंबर, 1948, पृ. 256

"मसौदे में कहीं भी कोई ऐसी व्यवस्था नहीं रखी गई है जिसके द्वारा लोगों के जाती कानून (Personal Law) की रक्षा हो सके। आप जानते हैं, श्रीमान्, कि हिंदुस्तान में कई संप्रदाय ऐसे हैं, जिनके संबंध में उनका अपना धर्मगत जाती कानून लागू होता है। जाती कानून के संबंध में भी कानून बनाया जा सकता है, किंतु यह बात इस दावे के खिलाफ होगी कि यह अधिशासन एक असांप्रदायिक अधिशासन होगा और वह नागरिकों के धार्मिक अधिकारों के संबंध में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। .....जब पृथक निर्वाचन न रह जाएगा, तो जो लोग भी विधान-मंडलों में आएंगे उनको बहुसंख्यक संप्रदाय ही मनोनीत करेगा और ऐसी हालत में ऐसा मुस्लिम उम्मीदवार संभवत: चुना ही न जा सकेगा, जो मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधि हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इसी कारण से संरक्षण नहीं चाहते हैं। अगर हम कोई ऐसा रास्ता निकाल सकें, जिससे कि निर्वाचित मुस्लिम सदस्य अपने संप्रदाय का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व कर सकें तो फिर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

मि. महबूब अली बेग साहेब,
6 नवंबर, 1948, पृ. 261-262

"अल्पसंख्यकों के संरक्षण की एक मात्र व्यवस्था यह होनी चाहिए कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली अपनाई जाए। एक लेखक ने 1948 की गोलमेज सभा में इस पद्धति का एवं आयरलैंड में यह कैसे काम करती है, इसकी चर्चा करते हुए कहा था कि इससे अल्पसंख्यकों के प्रति समुचित न्याय हुआ है और साथ ही एक स्थायी हुकूमत की जो आवश्यकताएँ हैं, वह भी इससे पूरी हुई है। .....अल्पसंख्यकों को विधान-मंडलों में संरक्षित स्थान देने का प्रावधान तो विधान में किया गया है, जो बिल्कुल व्यर्थ है, किंतु जहाँ नौकरियों का सवाल आया है, वहाँ केवल इतना ही कह दिया गया है कि उनकी माँगों पर विचार किया जाएगा।"

मि. जैड. एच. लारी,
8 नवंबर, 1948, पृ. 269

"अल्पसंख्यकों के जाती कानून हैं, उनको सुरक्षित रखा जाए यानी विधान-मंडल उनमें रद्दोबदल न करे। यह कहना सही है। बहुसंख्यक वर्ग के लिए तो इस सुरक्षा की आवश्यकता है ही नहीं, क्योंकि बिना उनकी स्वीकृति और सहमति के विधान-मंडल में कोई बात पास नहीं हो सकती। पर यह सुविधा अल्पसंख्यकों को तो प्राप्त नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि मुसलमानों के एवं उन अन्य संप्रदायों के, जो कि ऐसा चाहते हों, जाती कानूनों के संबंध में विधान-मंडल कोई हस्तक्षेप न करे, जब तक कि स्वयं उसी संप्रदाय के बहुसंख्यक सदस्य अपनी सहमति न दे दें। .....मैं सभा से अनुरोध करूंगा कि वह अतीत को भूल जाए और जो भी परस्पर अपराध हुए हों उन्हें क्षमा कर दे। रोज-रोज का यह बताया जाना कि पाकिस्तान की स्थापना के लिए हम जिम्मेदार हैं, बड़ा ही दुखद है। पाकिस्तान के निर्माण में कांग्रेस का भी उतना ही हाथ है, जितना अन्य किसी व्यक्ति का।"

मि. हुसैन इमाम,
8 नवंबर, 1948, पृ. 276, 278

"यह सच है कि अल्पसंख्यक-उपसमिति की सिफारिश पर गत वर्ष इस सभा ने कई संप्रदायों के लिए संरक्षित स्थान का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था। उस समय भी मैं इसके विरोध में थी और आज मैं फिर कहती हूँ कि संयुक्त निर्वाचन के इन नवीन ढाँचे में किसी भी संप्रदाय के लिए संरक्षित स्थान देना बिल्कुल व्यर्थ है।"

बेगम ऐजाज रसूले,
8 नवंबर, 1948, पृ. 280-81

"कोई भी व्यक्ति यह बात अस्वीकार नहीं कर सकता कि देश में कई अल्पसंख्यक वर्ग वर्तमान हैं। इस तथ्य को हम चाहे जितना भी अस्वीकार क्यों न करें पर इससे ये अल्पसंख्यक विलुप्त तो हो नहीं जाएंगे। गणतंत्र का अर्थ ही है बहुमत का शासन, जैसा कि आप भी जानते हैं, श्रीमान्। बहुसंख्यक वर्ग का ही सदा शासन रहता है और अल्पसंख्यकों को उनकी कृपा पर निर्भर करना पड़ता है।"

डा. मनमोहन दास,
8 नवंबर, 1948, पृ. 283

"अल्पसंख्यकों के हित संरक्षण के लिए जो प्रावधान विधान में रखे गए हैं, वह मेरी समझ से अभिनन्दनीय है, किंतु प्रान्तों में अभी भी इन संरक्षण-मूलक प्रावधानों के विरुद्ध लोगों में घोर आक्रोश है। मैं हृदय से ऐसा समझता हूँ कि इन प्रावधानों को हर प्रकार प्रभावी बनाना चाहिए।"

श्री बी. एल. मुनिस्वामी पिल्ले,
8 नवंबर, 1948, पृ. 287

"मेरे विचार से तो हमें न केवल संरक्षित स्थानों की ही, बल्कि पृथक निर्वाचन द्वारा उनकी पूर्ति का भी प्रावधान रखना चाहिए। यदि आप अल्पसंख्यकों को यह अधिकार देना चाहते हैं कि वह बहुसंख्यक संप्रदाय के समक्ष, विधान-मंडल के समक्ष, देश के समक्ष अपने विचार सही रूप में रखें, तो इस प्रावधान के सिवाय अन्य कोई और उपाय मुझे तो नहीं दिखाई देता। पृथक निर्वाचन का यही अभिप्राय है। .....जब हम पृथक निर्वाचन की चर्चा करते हैं, तो सांप्रदायिकता का अभियोग लगाया जाता है।"

मि. मोहम्मद इस्माइल साहब,
8 नवंबर, 1948, पृ. 333

"पर ऐसी कोई बात हमें नहीं करनी चाहिए, जिससे राष्ट्र स्थायी रूप से विभिन्न अल्पसंख्यकों में विभक्त बना रहे और उसका एकीकरण रुकता हो।"

श्री अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर,
8 नवंबर, 1948, पृ. 341

"अपने भाषण में डा. अंबेडकर ने अल्पसंख्यकों के प्रश्न की चर्चा की है। आपने विभाजन के संबंध में आयरलैंड की विधान विषयक कार्यवाहियों का उल्लेख किया है। किंतु वह यह भूल जाते हैं कि "भाड़ में जायं आपके संरक्षण; मैं आपके द्वारा शासित होना ही नहीं चाहता"; कहने वाला कासग्रेव नामक व्यक्ति अगर वहाँ था, तो उसकी पीठ पर सारी अंग्रेजी हुकूमत का हाथ था। हमारे यहाँ तो अब ऐसा कोई नहीं है। मुझे निश्चय है कि अब कोई भी अल्पसंख्यक वर्ग वस्तुतः यह न चाहेगा कि उसका एक पृथक राज्य हो।"

पं. गोविन्द मालवीय,
8 नवंबर, 1948, पृ. 353

"श्रीमान्, अल्पसंख्यकों के संबंध में मैं यही कहूँगा कि जहाँ तक महान् मुस्लिम जाति का संबंध है, मैं उनके लिए जगहें सुरक्षित रखने के पक्ष में नहीं हूँ। वे अपनी जाति को अब इतनी गई बीती नहीं समझ सकते कि उनके लिए इस प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता हो। उनमें से एक मित्र ने आगे बढ़कर यह भी कहा है कि उनको इस प्रकार के संरक्षण की आवश्यकता नहीं है।"

प्रो. एन. जी. रंगा,
8 नवंबर, 1948, पृ. 369

"अब मैं अल्पसंख्यकों के प्रश्न को उठाता हूँ। मुझे इसका खेद है कि डा. अंबेडकर ने यह कहा है कि अल्पसंख्यक एक विस्फोटक शक्ति है, जिसका विस्फोट होने पर राज्य का सारा ढाँचा गिर पड़ेगा। मेरा यह कहना है कि ये अल्पसंख्यक इस प्रकार की कोई बात नहीं कर सकते। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि ये वास्तविक नहीं हैं, ये केवल काल्पनिक है और इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। मैं उनको चुनौती देता हूँ। उन्हें यहाँ पृथक् प्रतिनिधित्व पाने का कोई अधिकार नहीं है। वे किसका प्रतिनिधित्व करेंगे? काल्पनिक अल्पसंख्यकों का सृजन अंग्रेजों ने किया था। ये अल्पसंख्यक केवल कागज में लिखे हुए अल्पसंख्यक हैं। इनको अब चिरस्थायी बनाने का प्रयास इसलिए किया जा रहा है कि इनमें से कुछ अवसरवादी परिवार विधान-मंडलों में अपनी जगहों को सुरक्षित रखना चाहते हैं। वे लोग जो अपने को अल्पसंख्यक कहने में हर्षित होते थे, यहाँ से चले गए हैं। वे ही लोग अब यहाँ हैं जिनका विश्वास एक राज्य में है। इसलिए श्रीमान्, अब कोई अल्पसंख्यक समुदाय नहीं है और इस विधान में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के बारे में कोई प्रावधान न होना चाहिए, क्योंकि इससे अभी तक तथाकथित अल्पसंख्यकों का ही विनाश हुआ है। मुसलमानों को ही लीजिए। मैं यह जानता हूँ कि उनकी भावनाएँ क्या हैं और मैंने देहरादून में अपनी आँखों से देखकर इसका अनुभव किया है। आज उनका नैतिक बल बिल्कुल नष्ट हो गया है। वे नागरिकता के साधारण अधिकारों का भी उपयोग करने के लिए अपने में नैतिक स्वतंत्रता नहीं पाते। पिछले दिनों में उनका गलत नेतृत्व होने के कारण आज वे इतने कायर हो गए हैं कि वे भारत में किसी जगह सीधे खड़े भी नहीं हो सकते। इसलिए श्रीमान्, मैं अनुसूचित जातियों, सिखों, मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों और हिंदुओं से भी यह कहूँगा कि वे अपने लिए जगहें सुरक्षित रखने की माँग न करें। हमारा एक असांप्रदायिक राज्य है। हम लोगों के किसी धार्मिक समूह को न तो स्वीकृति प्रदान कर सकते हैं और न उसको कोई वजन दे सकते हैं। यदि वे विभिन्न जातियों के होते तो उनका बहुमत या अल्पमत होने के कारण उनकी जो माँगें होतीं वे मेरी समझ में आ सकती थी। विश्वास और धर्म तो एक व्यक्तिगत चीज है। मैं डा. अंबेडकर के इस दावे का भी खण्डन करता हूँ कि भारत में बहुसंख्यक सांप्रदायिक आधार पर बहुसंख्यक हैं। बहुसंख्यक तो वास्तव में कांग्रेस हैं, जो एक राजनैतिक संस्था है।"

श्री महाबीर त्यागी,
9 नवंबर, 1948, पृ. 388

मसौदे पर यह बहस संविधान सभा में दिनांक 4 से 9 नवंबर 1948 तक अर्थात् 6 दिन चली। संविधान सभा के वाद विवाद की सरकारी रिपोर्ट (हिन्दी संस्करण) खंड VII-क, पुस्तक संख्या 3 से ये उद्धरण लिए गए हैं।

भाषण-1

विभाजक विधान पर दो पक्ष

अंग्रेजों ने हिंदू और मुसलमानों के लिए अलग-अलग निर्वाचन की व्यवस्था दी थी। सरदार बल्लभ भाई पटेल ने इसे निरस्त कर संयुक्त निर्वाचन विधि की व्यवस्था दी। सभा के अधिकतम सदस्य इस प्रस्ताव के पक्ष में थे लेकिन मुस्लिम लीग ने इसका मुखर विरोध किया। इसी क्रम में पहले मुस्लिम लीग के बी. पोकर साहब बहादुर और फिर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एम. अनंतशयनम् आयंगर के भाषण

27 अगस्त 1947 को 'अल्पसंख्यक अधिकार परामर्श समिति' के अध्यक्ष सरदार बल्लभ भाई पटेल ने 'पृथक निर्वाचन पद्धति' को निरस्त कर 'संयुक्त निर्वाचन विधि' की स्वीकृति का प्रस्ताव किया। मुस्लिम लीग ने इसका मुखर विरोध कर संशोधन प्रस्तुत किया, संशोधन के समर्थन में सामान्यतः सभी मुस्लिम सदस्य थे। उनका नेतृत्व मद्रास के बी. पोकर साहब बहादुर ने किया, उनका पूरा भाषणः

बी. पोकर साहब बहादुरः श्री अध्यक्ष महोदय, मैं माननीय प्रस्तावक का उन भावों के लिए, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने परिषद् से पिछली बातों को भुलाकर मित्रभाव से प्रेरित होकर बातचीत करने के लिए अनुरोध किया है, धन्यवाद देता हूँ। मैं इस भावना का स्वागत करता हूँ और श्री प्रस्तावक महोदय की इच्छा को अवश्य ही पूरा करूंगा। श्रीमान्, आपको ज्ञात ही है कि हम बहुत ही विकट समय में से गुजर रहे हैं। यहाँ पर कहा हुआ प्रत्येक शब्द दोनों ओर बहुत गहरा असर उत्पन्न करेगा। इससे दोनों संप्रदायों का पारस्परिक संबंध घनिष्ठ बन सकता है और इससे ही दोनों में झगड़े डलवाए जा सकते हैं। श्रीमान्, इन भावों के साथ मैं अपना संशोधन पेश करता हूँ, जिससे कि मुझे श्री माननीय प्रस्तावक महोदय तथा समिति की सिफारिशों से मतभेद प्रकट करना पड़ा है। श्रीमान्, इन शब्दों के पश्चात् मैं अपना पहला संशोधन जो कि आज के कार्यक्रम में अंकित है, पेश करता हूँ। यह इस प्रकार है कि:

"अल्पसंख्यकों के मौलिक अधिकार इत्यादि पर विचार करने के लिए बनाई गई परामर्श समिति द्वारा तैयार की गई अल्पसंख्यकों के अधिकारों संबंधी रिपोर्ट पर विचार करके विधान परिषद् की यह बैठक निश्चय करती है कि जहाँ तक मुसलमानों का संबंध है, केंद्रीय और प्रांतीय धारा-सभाओं के सारे चुनाव पृथक विधि के अनुसार किए जाएँ।"

श्रीमान्, इस प्रस्ताव को पेश करते समय मुझे पूरा ज्ञान है कि मुझसे मतभेद रखने वाले सज्जन यहाँ बहुत हैं। यही नहीं कि वे पृथक चुनाव को पसंद ही नहीं करते, अपितु वे यह भी महसूस करते हैं कि पृथक चुनाव ही देश पर इस समय आई हुई सारी मुसीबतों की जड़ है। उनके विचार में देश की इतनी भारी हानि करने वाली आपस की भ्रांति (understanding) के लिए भी यह ही जिम्मेदार हैं।

श्रीमान्! मेरा निवेदन है कि इस प्रश्न पर विचार करते समय परिषद् के माननीय सदस्यों को चाहिए कि वे माननीय प्रस्तावक महोदय की प्रार्थना पर अमल करें और पिछली बातों को भुलाकर साफ हृदय से कार्यारंभ करें। उन्हें चाहिए कि पिछले कुछ वर्षों में पूर्वानुभाषित (pre-conceived) नए विचारों को काम में न लाएँ और अतीतकाल की बातों को भूल जाएँ। इस प्रश्न पर उन्हें केवल इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि वह शर्त जो मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, दोनों जातियों में अच्छे संबंध पैदा करने के निमित्त कितनी लाभकारी है और इससे सब जातियों की खुशी में कितनी वृद्धि होगी। मैं प्रार्थना करूंगा कि ये पिछली घटनाओं से अपने आपको पृथक रखकर इस प्रश्न पर विचार करें और देखें कि दो पारस्परिक मैत्री संबंधों को घनिष्ठ करना कितना आवश्यक और संभव है। उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो जाएगा कि देश भर की सब जातियों को संतुष्ट रखना बहुत जरूरी है और इस विषय में वे मेरी ओर से प्रस्तुत की गई शर्त को विविध जातियों की खुशी में वृद्धि करने वाली ही पाएंगे। मैं निवेदन करूंगा कि हमें अपना कार्य निम्न प्रकार की प्रस्तावना से आरंभ करना चाहिए कि हमारा यह सबसे पहिला

और मौलिक कर्तव्य है कि हम ऐसा विधान बनाएँ जिससे कि सारी जातियों की तृप्ति हो जाए और जिसके द्वारा इन सब में संतोष का प्रसार हो। श्रीमान्! मुझे आशा है कि सारी परिषद् इस बात में मुझसे सहमत होगी कि यदि मुख्य-मुख्य जातियाँ असंतुष्ट रहीं और उनमें यह भावना कि देश के राजकार्य में उनकी बात उचित रूपेण सुनी नहीं जाती, तो यह एक ऐसी बुराई होगी कि जिसका निराकरण हमें हर कीमत पर करना चाहिए। सब जातियों का संतोष और तृप्ति करना अच्छे विधान का एक अनिवार्य अंग है और यह हमारा एक धार्मिक कर्तव्य है कि हम इसे पूरा करें।

मै देखता हूँ कि कुछ एक भाषणों में तो अल्पसंख्यक अर्थात् अल्पसंख्यक जातियों की सत्ता पर भी खेद प्रकट किया गया है। तथ्य तो यह है कि ऐसी विचारधाराओं को सामने रखने से, जो कि पूरी ही न की जा सकती हों, कोई भी लाभ नहीं हो सकता। यह तो मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध कार्य करने के समान है। मनुष्य स्वभाव जैसा कि आज है यदि ऐसा ही रहे तो 'अल्पसंख्यक' और 'अल्पसंख्यक जातियों' का किसी भी देश में होना अनिवार्य है। विशेष करके भारत जैसे किसी उप-महाद्वीप (नइ-बवदजपदमदज) तुल्य विस्तृत प्रदेश में तो उनका होना आवश्यक ही है और यह मनुष्य की शक्ति से बाहर है कि उनकी सत्ता को मिटा सके। हम तो केवल इतना ही कर सकते हैं कि उनके मतभेदों को कम करें और कार्य को इस प्रकार चलाएँ कि सारे अल्पसंख्यक संतुष्ट होकर तृप्ति का आस्वादन लें। इस विषय में दो नियम हैं जिनका हमें ख्याल रखना पड़ेगा। विविध जातियों में ले दे कर कार्य करने की भावना होनी चाहिए और विशेष कर बहुसंख्यक में तो उदारता के भाव काम करने चाहिए। उन्हें बहुत हिसाब से काम नहीं लेना चाहिए। न ही इस संकुचित दृष्टि से इन बातों पर विचार किया जाना चाहिए। जब कुछ अल्पसंख्यकों को बहुत ही हीन दशा (कपेंइपसपजपमे) में कार्य करना पड़ रहा हो और वे यह अनुभव भी कर रहे हों कि देश के राजकार्य में उन्हें अपना उचित भाग नहीं मिल रहा हो, तो ऐसी उचित शर्तें लगा देनी चाहिए जिससे कि उनका संतोष हो सके। यदि बहुसंख्यक यह भी अनुभव करें कि कोई अल्पसंख्यक विशेष अपनी बात को पूरा करवाने के लिए जिस विधि की माँग कर रहा है वह ठीक नहीं, तो भी मैं कहूँगा कि 'दो और लो' की भावना से प्रेरित होकर बहुसंख्यक को उदारता का ही व्यवहार करना चाहिए। श्रीमान्! मैं आपके द्वारा परिषद् के सदस्यों से बलपूर्वक प्रार्थना करूंगा कि वे मेरी इस बात को विशेषकर ध्यान में रखें। उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि यदि बहुसंख्यक ने यह उदारता कभी प्रदर्शित की तो वे घाटे में न रहेंगे। आखिर को बहुसंख्यक बहुसंख्यक ही हैं और अल्पसंख्यक अल्पसंख्यक ही। यदि कोई ऐसा तरीका भी प्रस्तुत किया जाए जिससे किसी अल्पसंख्यक विशेष को अपनी जनसंख्या अथवा किसी अन्य चीज के अनुसार प्राप्त होने वाले भाग से कुछ अधिक भी मिले तो भी बहुसंख्यक को तो 'दो और लो' की भावना से प्रेरित होकर उदारता का ही व्यवहार करना चाहिए। यह है वह भावना जिससे प्रेरित होकर इस प्रश्न पर विचार करने के लिए मैं परिषद् से प्रेरणा कर रहा हूँ। मुझे ये आरंभिक शब्द इसलिए कहने पड़े हैं, क्योंकि मुझे पता है कि जनता का एक बड़ा भाग पृथक चुनाव के बहुत विरुद्ध है। अल्पसंख्यक समिति और परामर्श समिति की रिपोर्ट में भी यह बात मिलती है। वे लोग पृथक चुनाव को अथवा पृथक चुनाव विधि को अंगीकार करना बहुत ही खतरनाक समझते हैं।

अब मैं आपको बताना चाहता हूँ कि इस देश में बहुत सारी जातियाँ और कई एक अल्पसंख्यक हैं और उनकी सत्ता को मिटा देना कभी संभव नहीं। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यह हमारा कर्तव्य है, यह उन लोगों का कर्तव्य है, जो विधान बना रहे हैं कि वे उसे इस प्रकार का बनाएँ कि जिसमें ऐसी शर्तें हों कि सारे ही उनसे संतुष्ट रहें।

अब अगली बात यह है कि इन विचारों को कार्यरूप में कैसे परिणत किया जाए। श्रीमान्! मेरा निवेदन है कि जब तक यह बात मानी जाती है कि अल्पसंख्यकों को संतुष्ट रखना चाहिए और कि उनके विचार और उनकी शिकायतों को धारा-सभाओं में विचार-विनिमय करते समय प्रभावोत्पादक विधि से रक्खा जाना चाहिए तो मेरा कहना है कि इसका केवल मात्र हल यह है कि उस व्यक्ति को जो कि अल्पसंख्यक का पूर्णतया प्रतिनिधि हो, हथिया लिया जाए। इसके विपरीत, यदि आप यह कहें कि उस जाति को जाति

के रूप में जीवित रहने का कोई अधिकार ही नहीं और कि यह लेखनी की एक घसीट से पूरा हो जाए तो श्रीमान्, मेरी यहाँ अवश्य ही कोई सुनवाई न होगी। परंतु यह आवश्यक है और यह आपको भी मानना पड़ेगा कि यहाँ पर ऐसी जातियाँ हैं कि जिनमें मजहब अथवा किसी और बिना पर बड़े गहरे मतभेद हैं। ऐसी जातियों के लिए हमारा यह कर्तव्य है कि विधान में कोई न कोई ऐसी शर्तें रखें जिससे उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल सके और किसी जाति को प्रतिनिधित्व देने की सबसे उत्तम और प्रभावशाली विधि यह ही है कि कोई ऐसा तरीका बना दिया जाए जिससे उस जाति के सबसे उत्तम पुरुष को जो कि उस जाति का प्रतिनिधित्व कर सके तथा उसके भावों को ठीक तरह से व्यक्त कर सके, धारा-सभा के लिए चुना जाए। केवल मात्र यही एक कसौटी है जिसके आधार पर हमें इस प्रश्न पर विचार करना है। अब सवाल यह है कि इस बात को पूरा करने के लिए पृथक चुनाव की आवश्यकता है कि नहीं। यह बात तो समिति की रिपोर्ट में भी मानी जा चुकी है कि जातियों के हितों को धारा-सभाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। अब केवल भेद यह रह जाता है कि वह ध्येय को किसी और प्रकार से प्राप्त करना चाहते हैं और मेरा कहना है कि उस प्रकार से कदापित सफलता नहीं मिल सकती। इस विषय में अल्पसंख्यक समिति का कथन है कि "उस अल्पसंख्यक वर्गविशेष के लोगों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए जाएँ" , परंतु यह किए जाएंगे संयुक्त चुनाव विधि से ही। इस प्रकार तो वह व्यक्ति ही चुना जा सकेगा जिसकी पीठ पर बहुसंख्यक का हाथ होगा; चाहे वह बहुसंख्यक का अपना ही आदमी क्यों न हो जिसे कि अल्पसंख्यक के भेष में खड़ा किया गया हो। ऐसे उदाहरण हैं जब कि असहयोग के जमाने में हिंदू और मुसलमान दोनों ने मिल करके मखोल उड़ाने के लिए ही धारा-सभाओं का बहिष्कार किया था। ऐसे अवसर पर किसी अनपढ़ चूड़े या भंगी अथवा ऐसे ही किसी और व्यक्ति को किसी जाति विशेष की ओर से चुनाव में केवल सारी बात का हास्य उड़ाने के लिए खड़ा किया जाता रहा है। अगर उन दिनों में ऐसा किया जा सकता था तो मैं पूछता हूँ कि आजकल क्या इसकी पुनरावृत्ति न होगी? इसमें कोई संदेह नहीं कि सारा मामला इस बात पर निर्भर है कि प्रश्न पर किस दृष्टिकोण से विचार किया जाए। परंतु मेरा निवेदन है कि एक व्यक्ति का किसी जाति विशेष में से होना इस बात की कोई जमानत नहीं कि उसके विचार उस जाति की तरजमानी करते हैं। किसी जाति का यदि उचित रूप से प्रतिनिधित्व किया जाता है तो यह आवश्यक है कि वह जाति अपने सदस्यों में से स्वयं कोई उचित व्यक्ति चुने। यही मेरी आपसे प्रार्थना है। यदि कोई अयोग्य मनुष्य अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जो जाति की आवश्यकताओं को समझने की सामर्थ्य भी नहीं रखता, प्रतिनिधि चुना जाना है, तो उससे केवल इसलिए कि वह उस जाति विशेष से संबंध रखता है, उस जाति की तरजमानी की कोई आशा नहीं की जा सकती। श्रीमान्! यह है वह कसौटी जिस पर हमें इस रिपोर्ट को परखना चाहिए और देखना चाहिए कि इससे वह नियम जिसके द्वारा विविध जातियों को धारा-सभाओं में प्रतिनिधित्व देना अभीष्ट था, पूरा होता है कि नहीं। इसके विपरीत यदि अल्पसंख्यक की सत्ता और उसके प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के अधिकार से ही इंकार किया जाना है, तो इस विषय में मुझे और कुछ नहीं कहना। परंतु मैं आपसे इस प्रश्न को उदारतापूर्वक निपटाने की प्रार्थना करूंगा। मैं माननीय सदस्यों को उन दिनों का स्मरण कराना चाहता हूँ जब 1916 की लखनऊ-संधि (Lucknow-Pact) पर चलते हुए पृथक निर्वाचन विधि को स्वीकार कर लिया गया था। यह इस बात का ही परिणाम था कि 1920 के असहयोग के दिनों में दोनों जातियाँ भाइयों की तरह कंधे से कंधा मिलाकार चलने लगी थीं। श्रीमान्! यदि दोनों जातियों के उन दिनों के भाई-बहिनों के से व्यवहार द्वारा, हमें आज मिलने वाली स्वतन्त्रता की नींव डाली जा सकती थी, तो मुझे कोई कारण दिखाई नहीं देता कि क्यों आज के बाद भी भाई-बहिनों के समान मिलकर हम फिर इस नियम पर अमल न कर सकेंगे और एक ही परिवार के सदस्यों की भाँति कार्य करते हुए हम संसार भर की जातियों में क्यों न भारत को गर्वान्वित बना सकेंगे? भारत को संसार भर की जातियों में अग्रगण्य बनाना हमारा काम है और यह तभी हो सकता है, यदि हम सहानुभूति और मित्र-भाव से व्यवहार करें। 1920 के असहयोग के जमाने में जिन भावों से प्रेरित होकर हम कार्य करते थे, उन्हें सामने रखकर मैं कह सकता हूँ कि आज भी हम उन भावनाओं से काम कर सकते हैं। श्रीमान्, मैं निवेदन करता हूँ कि मन में पूर्वभासित इस भावना को कि देश की सारी बुराइयों की जड़ पृथक् निर्वाचन-विधि ही है, एक तरफ रखकर इस परिषद के सदस्यों को एक उदाहरण कायम करना चाहिए यह भावना ठीक है या अशुद्ध, मैं इस बात पर बहस नहीं करना चाहता। मेरी तो आपसे केवल यही प्रार्थना है कि आप माननीय प्रस्तावक महोदय के इस कथन का कि हमें पिछली बातों को भुला देना चाहिए और भविष्य में मित्रभावों से प्रेरित होकर व्यवहार करना चाहिए, समर्थन करें।

मुझे एक और बात पर भी जोर देना है। धारासभा का उद्देश्य सारे देश और सब जातियों के लिए कानून बनाना है। अत: यह बहुत आवश्यक है कि ऐसी धारासभाओं में सभी जातियों की आवश्यकताओं को पेश किया जाए। मैं निवेदन करता हूँ कि इन हालात में, जैसे कि इस समय देश में प्रचलित हैं, एक विशेष जाति के सदस्यों के लिए, उदाहरणार्थ गैर मुस्लिमों के लिए, यह बहुत कठिन होगा कि वे मुस्लिम जाति की आवश्यकताओं को समझ भी सकें। मेरा कहना कि यदि कोई गैर मुस्लिम पूरा प्रयत्न भी करे

तो भी वह महसूस करेगा कि मुस्लिम जाति की भावनाओं की वह तरजमानी नहीं कर सकता। कारण यह है कि जब तक वह उस जाति से संबंधित न हो वह उस जाति विशेष की वास्तविक आवश्यकताओं का पता लगाने, समझने और उनकी कदर करने की स्थिति में ही नहीं होता। उनके लिए आवश्यकताओं को ठीक-ठीक समझना प्राय: असंभव ही है। इस संबंध में हमेशा ही बहुत सारे ऐसे प्रश्न होते रहे हैं और विशेषकर के आगे को भी होंगे कि जिनके विषय में जातियों के लिए धारासभाओं में आवाज उठाना जरूरी होगा। जैसा कि दान में दी हुई संपत्तियाँ, विवाह, संबंध-विच्छेद (divorce) तथा समाज के लिए और भी अन्य महत्वशाली बातें। मैं परिषद् से प्रार्थना करूंगा कि वह इस विषय में तनिक विपरीत दिशा में भी सोचने का कष्ट करे। यदि मुसलमानों को धारासभा में हिंदुओं की शिकायतों की तरजमानी करनी हो और उन्होंने ही उदाहरणार्थ मानो मंदिर प्रवेश तथा विवाह संबंधी रिवाजों इत्यादि के रास्तें में पेश आने वाली कठिनाइयों को हटाने के निमित्त प्रभावोत्पादक उपाय सोचने हों, तो जरा खयाल दौड़ाइए इसे हिंदू किस प्रकार महसूस करेंगे? मैं मानता हूँ कि दोनों ओर ही, हिंदू और मुसलमान दोनों ही की आवश्यकताओं को अच्छी तरह से जानने वाले मिल जाते हैं पर उनकी गिनती बहुत थोड़ी है। इसीलिए ही तो मैं कहता हूँ कि नियम यह होना चाहिए कि किसी जाति विशेष के सबसे उत्तम आदमी को ही उसके विचारों की तरजमानी करने के लिए चुना जाए। और यह मकसद पृथक निर्वाचन विधि के बिना पूरा नहीं हो सकता।

मैं आपके सामने एक और बात भी रखना चाहता हूँ। वह यह है कि पृथक् निर्वाचन विधि रूपी संस्था का उपभोग मुसलमान इस शताब्दी के प्रथम दस वर्षों से ही कर रहे हैं। अर्थात् इस सुविधा से लाभ उठाते हुए उन्हें आज 40 वर्ष हो गये हैं और आज जब कि स्वतंत्रता प्राप्त की जा चुकी है, इसका खात्मा किया जा रहा है। मेरा निवेदन है कि इससे मुसलमानों में ये भाव जागृत होंगे कि उन्हें इस विकट समय में पूर्व प्रचलित संस्थाओं के लाभ से वंचित किया जा रहा है और यह कि उनकी अवहेलना की जा रही है और उनकी आवाज को दबाया जा रहा है। मैं सदस्यों से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस प्रकार की स्थिति आने ही न दें और भारतीय मुसलमानों में इन भावों को उत्पन्न न होने दें।

एक और बात जिसकी ओर मैं इशारा करना चाहता हूँ, यह है कि इस देश में मुसलमान सुसंगठित हैं। देश के सामूहिक हित की दृष्टि से यह बहुत ही आवश्यक है कि प्रत्येक महत्वशाली जाति सुसंगठित हो जाए। तभी तो सारे मिल कर देश की भावी राजसत्ता के संबंध में कोई समझौता कर सकेंगे। इस समय मुसलमान शक्तिशाली और सुसंगठित हैं। अत: यदि उन्हें यह महसूस करने पर मजबूर किया गया कि उनकी आवाज की धारासभा में सुनवाई नहीं हो सकती तो वे उद्दंड हो जाएंगे। मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि आप ऐसा अवसर आने ही न दें। आपको पूर्णतया पता है कि इस समय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के ध्येयों में बहुत थोड़ा भेद है। इसमें कोई शक नहीं कि केवल थोड़े दिन पहले ही उन दोनों में बहुत बड़े मतभेद विद्यमान थे। परंतु बुद्धिमत्ता से कहो या मूर्खता से अथवा गलत या ठीक तौर पर वे अब मिटा दिए गए हैं। आज इन दोनों बड़ी संस्थाओं में समझौता हो चुका है। वे मौलिक बातें जिन पर कि उनका मतभेद था, अब सुलझाई जा चुकी हैं। अत: इस समय इन दोनों में वस्तुत: कोई भेद नहीं। इस दशा में उन्हें आपस में अवश्य मिल जाना चाहिए, ताकि देश से ध्वंसकारी अंशों का विनाश किया जा सके। मुझे विश्वास है कि आप मुझ से इस बात में सहमत होंगे कि देश में बहुत से ध्वंसकारी अंश विद्यमान हैं। उनकी सरगर्मियाँ इस समय विधि और मर्यादा (law and order) के विरुद्ध हैं। प्रांतीय सरकारों ने इन ध्वंसकारी अंशों का विनाश करने के लिए आर्डिनेंस जारी करने की शक्ति प्राप्त कर ली है। अब मैं इस परिषद् के माननीय सज्जनों से अनुरोध करता हूँ कि कांग्रेसी सज्जनों, 'मुसलमानों तथा दूसरी जातियों को आपस में मिलकर इस प्रकार कार्य करना चाहिए जिससे कि इन ध्वंसकारी अंशों का जिन्होंने कि हमारे महत्वशाली देश के इतिहास में इस विकट समय पर सर उठाया है, विनाश किया जाए। इस बात को पूरा करने के लिए ही, यह जानता हुआ भी कि इस बात पर बहुत मतभेद विद्यमान हैं, मैं कहता हूँ कि मुसलमानों को पृथक चुनाव का अधिकार देकर हम अच्छा ही करेंगे क्योंकि इस प्रकार से धारा-सभा में उनकी सुनवाई हो सकेगी और वे कांग्रेस के साथ मिलकर काम कर सकेंगे। अन्यथा ये ध्वंसकारी अंश देश के लोगों की रक्षा के लिए आभ्यंतर और बाह्य दोनों ओर से एक बहुत बड़ा खतरा बन जाएंगे। मैं इस बात को अधिक स्पष्टता से नहीं कहना चाहता क्योंकि मुझे पता है कि माननीय सदस्यों ने इस विषय में मेरे कथन को जान लिया है। श्रीमान्, इन शब्दों के साथ मैं अपना संशोधन पेश करता हूँ।

श्री अध्यक्ष महोदय, मैंने और संशोधनों की भी सूचना दे रखी है। वे परिशिष्ट की किसी न किसी मद से अवश्य संबंधित हैं। अत: उन्हें प्रस्तुत करने के अपने अधिकार को अभी मैं सुरक्षित रखता हूँ।

स्रोत: भारतीय विधान-परिषद् के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट (हिंदी संस्करण); अंक 5, संख्या 8; 27 अगस्त, 1947 ई.: पृष्ठ 29
https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/763224/1/cad_27-08-1947_hindi.pdf

भाषण-2

श्री बी. पोकर साहब बहादुर के भाषण की सदन में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इसके प्रत्युत्तर में दिया गया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य श्री एम. अनंतशयनम् आयंगर का भाषण:

श्री एम अनंतशयनम् आयंगर (मद्रास: जनरल): श्रीमान्, पूर्व वक्ता के भाषण से मैं बहुत ही निराश हुआ हूँ। मेरा ख्याल था कि पाकिस्तान प्राप्त कर लेने के बाद हिंदुस्तान में रहने वाले मेरे मुसलमान मित्र अपना व्यवहार बदल लेंगे। मुझे, जब मैं यह सोचने लगता हूँ कि उनके लिए इससे अधिक और क्या किया जा सकता था, तो सचमुच अचंभा होता है। हर मुमकिन तरीके से उन्हें मनाने के लिए जब हम सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं तो यह बहुत ही ज्यादा है। 24 जुलाई 1923 को जेनेवा के स्थान पर अपने अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए तुर्की ने जिस संधि पर हस्ताक्षर किए थे, वह इस समय मेरे सामने है। मैं इस संशोधन के पक्षपातियों से पूछता हूँ कि दुनिया में कहीं भी स्थित किसी देश के किसी कोने से भी (यदि वे दिखला सकते हों तो) मुझे वे कोई उदाहरण दिखलाएँ कि जहाँ पर एक राजनैतिक अधिकार को इस प्रकार स्वीकार कर लिया गया हो जैसा कि हमने यहाँ पर किया है। मैं परिषद् से प्रार्थना करूंगा कि कृपया वे तुर्की की उक्त संधि के 39वीं धारा (Article) को पढ़ें। यह नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए पिछले कुछ वर्षों में तुर्की से बढ़कर जोर लगाने वाला कोई और मुल्क है। आओ, देखें कि तुर्की में अन्य अल्पमतों को उन्होंने कौन से अधिकार दिए हैं और अपने नागरिकों के लिए दूसरे देशों से उन्होंने कौन से अधिकार माँगे हैं। मेरे पास यहाँ चित्र के दोनों पहलू हैं। ये दोनों ही संधियाँ वैधानिक उदाहरण नंबर में 3 छपी हुई है। मैं 39वीं धारा (Article) पढ़ता हूँ:

"गैर मुसलमान जातियों से संबंध रखने वाले तुर्की के नागरिक तुर्की के मुसलमानों के समान ही नागरिक और राजनैतिक अधिकारों का उपभोग करेंगे।"

सचमुच उन्हें ये अधिकार प्राप्त हैं। इसका मतलब केवल यह है कि उन्हें बाकी जाति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का अधिकार प्राप्त है, वे चुनाव में कहीं पर भी और किसी भी 'स्थान' के लिए खड़े हो सकते हैं और बिना किसी रोक-टोक के किसी भी नौकरी अथवा पद के लिए उम्मीदवार बन सकते हैं। उन्हें सब प्रकार से सारी जाति का विश्वास प्राप्त करने दो। केवल यही एक मार्ग है जिसके द्वारा वे इकट्ठे हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कौन सा उचित मार्ग हो सकता है, यह मुझे पता नहीं। इस संबंध में आप मेरे से पूर्व बोलने वाले माननीय सदस्य से पूछ सकते हैं। उनकी शिकायत का बीज 1916 में हमारे द्वारा नहीं अपितु अंग्रेजों द्वारा बोया गया था। आप मुझे आज से कुछ देर पहले का देश का इतिहास दोहराने दीजिए, चाहे इसमें परिषद् का कुछ समय ही क्यों न लग जाए। 1857 में हिंदू और मुसलमानों ने मिलकर जंग की। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उस समय हम अपने देश में देशवासियों का ही राज्य स्थापित करना चाहते थे। चाहे वे हिंदू थे या मुसलमान, इस बात की कोई तमीज न थी। जो जहाँ थे उनका ही राज देश के विभिन्न भागों में कायम करने का प्रयत्न किया गया था। उन्होंने इस देश को विदेशियों से छुड़ाने और स्वतंत्र करने के लिए मिलकर जंग लड़ी। पाश्चात्य इतिहासकार इसे चाहे कुछ भी नाम दें, परंतु यह था जंगे-आजादी। उसके बाद अंग्रेजी सरकार ने एक जाति को दूसरी के विरुद्ध प्रयोग करने का प्रयत्न किया। अब कभी हिंदुओं पर कृपादृष्टि होने लगी और कभी मुसलमानों पर। यह ठीक है कि कतिपय माने हुए तथा देशप्रेमी यूरोप के लोगों ने ही भारतीय राष्ट्र सभा (Indian National Congress) में द्ध को बनाने का विचार हमारे मन में डाला। बेशक यह ठीक है, परंतु उनके पीछे आने वालों ने क्या किया? पंद्रह वर्ष के थोड़े समय में ही उन्होंने देखा कि स्वतंत्रता का विचार देश में पूरी तरह घर कर गया है और यह उनके लिए घातक था। इसीलिए 1903 में लार्ड कर्जन ने बंगाल में हिंदू और मुसलमानों को जुदा करना चाहा। परंतु इसकी प्रतिक्रिया इतनी प्रबल हुई कि कोई भी मनुष्य स्त्री और बच्चा तक भी बंगाल प्रांत के विभाजन को मटियामेट किए बिना दम नहीं लेना चाहता था। इस तरह हम पुन: एक हो गए। परंतु पृथक चुनाव-विधि के कारण आज हम पुन: जुदा-जुदा हैं। श्रीमान्, मुझे बताया गया है कि एक दिन एक यूरोपवासी ने, जिसका कि इस देश में पृथक चुनाव विधि जारी करने में काफी हाथ था, इंगलिस्तान में अपने किसी मित्र को लिखा कि वह संसार में सबसे उत्तम वस्तु को प्राप्त करने में सफल हो गया है। और वह वस्तु है हिंदुओं और मुसलमानों का जुदा किया जाना। इसमें कोई शक नहीं कि हिंदू और मुसलमानों में मतभेद विद्यमान हैं। एक पूर्व की ओर और दूसरा पश्चिम की ओर मुँह करके अपनी प्रार्थना करता है। परंतु इसके साथ ही दोनों को इकट्ठा रखने वाले संयुक्त बंधन भी तो हैं। मुहम्मद ने विविध लड़ाके अंशो (elements) को अपने झंडे के नीचे लाने के लिए मजहब का आरंभ किया। पुराने जमाने में मजहब मिलाने वाली एक शक्ति हुआ करती थी। आज भी कोई संयुक्त प्लेटफार्म होना चाहिए, जहाँ सारे ही इकट्ठे हो सकें। मैं उस दिन की ओर

देख रहा हूँ जब सारी मानव जाति एक हो जाएगी। जब जाति और मत के सब भेदभाव मिट जाएंगे (तालियाँ)। जब बच्चे यह पूछे जाने पर कि तुम्हारा कौन सा मजहब है, उत्तर देंगे कि: "मेरा किसी धर्म से कोई संबंध नहीं है, मैं तो केवल भारतीय ही हूँ और ऐसा होने में मुझे गर्व भी है।" मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि जब कोई भी भेदभाव न रहेंगे। एक बच्चा भी यह जानता है कि माता और पिता में क्या अन्तर है। चाहे बिजली की एक बत्ती सफेद हो और दूसरी लाल, परंतु जो बिजली की लहर उसमें से गुजरती है वह तो एक ही है। इन सारी घटनाओं के मध्य में एक तत्वदर्शी का आना आवश्यक है जो आकर यह कहे कि "आओ, अब हम ईसा के समय को पुन: पृथ्वी पर लाएँ।" हमारे अपने इलाके अर्थात् मद्रास प्रांत में यद्यपि मुसलमान अल्पसंख्यक हैं, परंतु देश को बाँटने वाली इस लहर में उन्होंने भी भाग लिया। क्या आपको उस तबाही की मिसाल दुनिया में मिल सकती है जो कि पंजाब में की जा रही है। इसके लिए चाहे कोई भी जिम्मेदार हो परंतु यह हमारे प्राचीन धर्म और नवी के मजहब पर एक कलंक है। देश में जो कुछ हो रहा है न तो उससे ऋषि और न ही महर्षि, यदि वे देख रहे होंगे तो संतुष्ट हो सकते हैं। क्या अब भी हमारे लिए बुद्धिपूर्वक यह सोचने का समय नहीं आया कि इन सब बातों के लिए कौन जिम्मेदार है। हम सब भाई-भाई हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि पोकर महोदय मेरे से भिन्न हैं। वह तामिल बोलते हैं और मैं भी तामिल ही बोलता हूँ। वह हिंदुस्तानी नहीं बोल सकते और मैं थोड़ी-थोड़ी हिंदुस्तानी समझ और बोल सकता हूँ। यदि कल को मैं मुसलमान हो जाऊँ तो आप के विचार में क्या मैं 'मद्रासी' से कुछ न्यून बन जाऊंगा? दुर्भाग्यवश देश का विभाजन हो चुका है और इस बात के लिए जिम्मेदार व्यक्ति गर्वान्वित हो सकते हैं। आखिरकार यह दो भाइयों में लड़ाई के समान ही तो है। मैं एक वकील हूँ और मुझे कई एक ऐसे झगड़ों का पता है जहाँ छोटे भाई ने बड़े भाई के विरुद्ध अभियोग चलाया हो और जहाँ बड़ा भाई यह कहे कि छोटा भाई तो मेरे पिता का असली पुत्र ही नहीं। झगड़े की समाप्ति के पश्चात् यदि बड़े भाई के घर में कोई विवाह आ जाए तो छोटा भाई उसमें जाने से इन्कार करता है। तब बड़ा भाई कहता है कि "इसमें शक नहीं कि इसमें लड़ाई हुई थी, परंतु यदि मेरा छोटा भाई शामिल नहीं होता तो मैं विवाहोत्सव भी नहीं करता।" इसी तरह संभवत: किसी दिन पाकिस्तान पुन: हमारे पास लौट आए। मेरे मित्र पोकर महोदय के संशोधन का क्या प्रभाव होगा आप प्रात: मसजिद में जाते हैं और मैं मंदिर में। परंतु हमें एक संयुक्त वेदी (Platform) बनानी होगी जिस पर कि हम कई बातों के लिए इकट्ठे हो सकें। अगर दुर्भिक्ष पड़ जाए तो हम सबको ही इसका सामना करना पड़ेगा। हमें आशा है कि यदि चुनाव संयुक्त विधि से हुए तो एक दिन ऐसा आयेगा कि जब हम आपस में मिल जाएंगे। संयुक्त चुनाव विधि के अनुसार एक हिंदू मुसलमानों का और एक मुसलमान हिंदुओं का प्रतिनिधि हो सकता है। मैं मुसलमानों की आपकी अपेक्षा से अधिक तरजमानी करूंगा, क्योंकि मुझे यह ज्ञान रहेगा कि मैं मुसलमान नहीं हूँ और इस स्थिति में मैं सर्वदा न्यूनता के भाव से शंकित रहूँगा और इसीलिए आपके हितों की अधिक देखभाल करूंगा। अत: इस बात से लाभ क्यों न उठाया जाए? मेरे मित्र पोकर महोदय कहते हैं कि उन्हें एक अच्छा और ईमानदार प्रतिनिधि चाहिए। इस अच्छाई की क्या परिभाषा है? अच्छाई हिंदू या मुसलमान होने से नहीं आती। मेरा विश्वास है कि वह एक ऐसा व्यक्ति चाहते हैं, जो मुस्लिम की सफलतापूर्वक सहायता करें। बंगाल के हत्याकांड में हमने यह पूछने की कोशिश ही नहीं की कि कितने हिंदू और कितने मुसलमान मारे गए और आज तक भी हमें इस बात का पता नहीं। अभाग्यवश कई हिंदू भी यह सोचने लग जाते हैं कि: "हम भी तो मनुष्य ही हैं। अब जब कि देश का बटवारा हो चुका है तो उनकी रक्षा क्यों की जाय। इस झगड़े को अब समाप्त ही होने देना चाहिए।" ईश्वर के लिए इस उत्पात को रोकिए। वह मनुष्य जिसको कि मुसलमानों का विश्वास प्राप्त नहीं, किस प्रकार उनका उचित प्रतिनिधि नहीं हो सकता? यदि एक सांसारिक राज्य के स्थान पर भारत में एक मजहबी राज्य बन जाए, तो भी तो एक व्यक्ति ही सारे कार्य को चलाएगा, चाहे वह कोई हिंदू पुजारी हो या मुसलमान मुल्ला। इससे अधिक तो और कुछ नहीं हो सकता। अत: इन बातों से हम इकट्ठे नहीं हो सकते। मैं एक हिंदू हूँ और यदि आप मुझे अपना प्रतिनिधि बनने दें तो मैं न्यूनातिन्यून एक बार तो चार वर्ष में आपके पास अवश्य आऊंगा। इसी प्रकार एक मुसलमान को हिंदुओं के पास आना होगा। अंतत: इस तरह हम एक हो जाएंगे। और यह तभी संभव हो सकता है कि यदि चुनाव संयुक्त विधि से किए जायें। मुझे उसके पास मत (Vote) लेने के लिए जाना होगा। यदि मैं उसका

प्रतिनिधि न होऊँ तो दुनिया का कौन-सा बंधन मुझे उससे संबंधित कर सकता है। यथार्थता की दृष्टि से भी मैं अपने उस मित्र से पूछता हूँ कि यदि 200 सदस्यों की परिषद् में उसके साथ एक, पाँच अथवा बीस सदस्य भी हों तो यह एक मामूली सी बात है। क्या ऐसी स्थिति में वह दूसरों के सहयोग बिना अपना काम चला लेंगे? क्या वह यहाँ इस्लाम का प्रचार करना चाहते हैं या कुरान का पाठ? क्या मुझे यहाँ वेद पढ़ने की आज्ञा होगी? इस परिषद् में बहुमत की सहायता के बिना कौन-सी बात की जा सकती है? मैं आशा करता हूँ कि बहुत शीघ्र ही यहाँ पर एक सांसारिक राजसत्ता बन जाएगी। क्या आप सांसारिक राजसत्ता निर्माण करने में हमारे रास्तों की रुकावट बनेंगे? क्या आप इतिहास में लिखी घटनाओं से लाभ न उठाओगे? 150 वर्ष पहले अमेरिका क्या था? क्या आप उनके इतिहास से कोई सबक न सीखेंगे? 150 वर्ष पूर्व की बात है कि वे लोग जो अपने देश से निकाले गए थे, वे एस. एस. मेफ्लोवर नामी जहाज में समुद्र के बीच भूमि की खोज में निकले और चलते चलते पश्चिमी इंडीज (West Indies) पहुँच गए। और वही भूमि अर्वाचीन अमेरिका है। आज आर्थिक क्षेत्रों में वे संसार के स्वामी हैं। वे लोग ही आज यह, वह अर्थात् सब कुछ कर रहे हैं। वे आज हमारे लोगों को दांत साफ करने और मुँह धोने की शिक्षा दे रहे हैं, हालांकि यह बातें हम 5,000 वर्ष पहले ही जानते थे। उन्हें इस बात का भी पता नहीं कि बिना स्नान किए हम भोजन भी नहीं करते। वे आज यहाँ आकर ये बातें हमें इसलिए बता रहे हैं क्योंकि देश में विकीर्णात्मक शक्तियाँ काम करने लगी थीं, जिनके कारण वे आगे निकल गए और उन्नत हो गए। क्या इटैलियन, फ्रांसीसी तथा स्पेन के लोग और दूसरे भी अमेरिका महाद्वीप में मिलकर इकट्ठे न आए थे? अत: यह हमारा कर्तव्य है कि हम एक सांसारिक राज्य सत्ता कायम करें। इस विषय में मि. जिन्ना को उद्धृत करना मेरे लिए असंगत न होगा, चाहे विभाजन से पूर्व उन्होंने कुछ ही क्यों न कहा हो। उन्होंने कहा कि: "मेरा विचार एक सांसारिक राज्य सत्ता कायम करने का है।" किसी ने पूछा कि मजहबी अथवा सांसारिक (Secular)। उसने उत्तर में कहा कि: "हिंदू और मुसलमान मेरे लिए एक समान हैं। उन्हें समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। मैं दोनों के लिए ही एक संयुक्त राष्ट्र बनाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।" हमारे मुसलमान मित्र जो मि. जिन्ना के भक्त हैं और जिसका वे बहुत मान भी करते हैं, जैसा कि मैं भी करता हूँ, इस विषय में उससे भिन्न क्यों सोचते हैं? मैं तो 'अल्पसंख्यक' इस शब्द को ही पसंद नहीं करता। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि मैं इस संशोधन के विरुद्ध हूँ।

श्री बी. दास (उड़ीसा: जनरल): श्री अध्यक्ष महोदय, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इस प्रकार बरसों तक जिन बातों पर बहस होती रही हो, उनको ही इस परिषद् में पुन: बहस का विषय बनाने की क्या आप आज्ञा देंगे?

अध्यक्ष: मैं श्री बी. दास द्वारा उठाई गई वैधानिक आपत्ति की कद्र करता हूँ। यह ठीक है कि प्रस्ताव का विषय ऐसा है कि उस पर बोलते हुए सब बातें बीच में कही जा सकती हैं, परंतु फिर भी मैं आशा करता हूँ कि सदस्य बोलते समय अपने आपको प्रस्ताव के विषय तक ही सीमित रखेंगे। मैं यह भी आशा रखता हूँ कि सदस्य घड़ी की ओर भी ध्यान रखेंगे। श्री आयंगर ने तो पहले ही 20 मिनट से अधिक ले लिए हैं।

श्री एम. अनंतशयनम् आयंगर: हाँ श्रीमान्, यह पहला अवसर है कि मैं इस विषय पर, जो कि हमारे मन में सबसे अधिक महत्वशाली है, बोल रहा हूँ। पंजाब की घटनाओं की ओर संकेत न करना कोई आसान नहीं। 165 नागरिक अफसरों में से जो यहाँ से रेलगाड़ी द्वारा कराची भेजे गए थे, केवल दो ही वापिस आये हैं। वे भारत में लौट आये हैं। यह खबर कल के हिंदुस्तान टाइम्स में छपी है। देहली के राज-कार्यालय (Secretariat) के शेष 163 अफसरों का क्या बना? उनकी किस्मत का क्या बना, यह अभी तक पता नहीं लग सका। मैं 20 मिनट तो क्या, ऐसी घटनाओं पर 20 वर्ष से भी अधिक रोता और चिल्लाता रहूँगा। मैं इसका कोई हल सोच रहा हूँ। मैं अपने मित्र पोकर महोदय से प्रार्थना और अनुरोध करता हूँ कि वे एक सांसारिक राजसत्ता का निर्माण होने दें। संस्कृति, भाषा और शिक्षा संबंधी विषयों के लिए बहुत शर्तें बनाई जा चुकी हैं; और यदि फिर भी कोई रुकावट पेश आए तो आओ, मिल कर उसे पार करें। किसी भी एक जाति और व्यक्ति का हित किसी दूसरे के लिए कुर्बान नहीं होने दिया जाना चाहिए।

राजनैतिक विषयों के संबंध में भी मुझे यही कहना है कि आओ, मिल-बैठ कर अपनी समस्याओं को सुलझा लें। हमने अपने मतभेद दूर कर लिए हैं और अब हम यदि सांसारिक राजसत्ता का निर्माण कर सकें तो दुनिया में हम सबसे ऊँची जाति की हैसियत से सिर ऊँचा कर सकेंगे। इन दिनों हम पाश्चात्य संस्कृति का ख्याल करते रहे हैं। बौद्धिक ज्ञान का सूर्य जो कभी पूर्व से उदय हुआ था, आज दुर्भाग्य से अस्त होकर पश्चिम में पहुँच गया है। आओ, इस सूर्य का हम पुनरुत्थान करें। आओ, हम इस सूर्य का उदय पूर्व में पुन: पहले से भी अधिक देदीप्यमान अवस्था में कराएँ। इन शब्दों के साथ मैं पोकर महोदय तथा उनके साथियों से, जिन्होंने कि यह संशोधन प्रस्तुत किया है, प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना संशोधन वापिस ले लें और सर्वसम्मति से मिलकर संयुक्त चुनाव विधि के हक में फैसला करें। (तालियाँ)

स्रोत: भारतीय विधान-परिषद् के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट (हिंदी संस्करण);अंक 5, संख्या 8; 27 अगस्त, 1947 ई.: पृष्ठ 36
https://eparlib.nic.in/bitstream/123456789/763224/1/cad_27-08-1947_hindi.pdf

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः .....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

आज़ादी का अमृत महोत्सव

" 100 वर्ष की सबसे बड़ी महामारी के विरूद्ध लड़ाई में हिमाचल प्रदेश चैंपियन बनकर सामने आया है। "
नरेन्द्र मोदी, प्रधानमंत्री

कोरोना संकट में भी थमने नहीं दिया विकास
पूरी हुई हर हिमाचली की आस

सेवा और सिद्धि के 4 साल समृद्धि के

शतप्रतिशत पात्र आबादी को **कोविड वैक्सीन** की **पहली व दूसरी डोज़** देकर **देश में नं. 1** बना **हिमाचल**

मुख्यमंत्री सेवा संकल्प हेल्पलाइन 1100
3,37,535 शिकायतें प्राप्त
86 प्रतिशत का किया **समाधान**

सामाजिक सुरक्षा पेंशन योजना
- 2.21 लाख पेंशन के नए मामले किए स्वीकृत

मुख्यमंत्री गृहिणी सुविधा योजना
- 3.25 लाख परिवारों को दिए नि:शुल्क गैस कनेक्शन 119.90 करोड़ रूपये खर्च

मुख्यमंत्री हिमाचल हैल्थ केयर योजना-हिमकेयर
- 2.40 लाख लोगों ने नि:शुल्क करवाया इलाज

प्राकृतिक खेती खुशहाल किसान योजना
- 1,68,741 किसान उठा रहे योजना का लाभ

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना
- 1.37 लाख से अधिक गैस कनेक्शन रहित पात्र परिवारों को नि:शुल्क गैस कनेक्शन प्रदान योजना के तहत 21.81 करोड़ रूपये खर्च

आयुष्मान भारत
- 4.28 लाख परिवारों के गोल्डन कार्ड बनाए गए
- अब तक 1.26 लाख रोगियों को मिला 154.16 करोड़ रूपये का नि: शुल्क इलाज

जल जीवन मिशन
8.37 लाख घरों में पहुंचा नल से जल

सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश सरकार
www.himachalpr.gov.in HimachalPradeshGovtIPRDept DPR Himachal dprhp

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)

Azadi Ka Amrit Mahotsav

HIMACHAL TOURISM

Himachal Calling...

Adventure Amidst snow-capped peaks
Holidays amidst Sun-kissed mountains!

A thrill-seekers delight- Himachal offers enthralling adventure options and amazing experiences.
Ski your way through snowy lanes or paraglide like a free bird, the list is endless.
Let Himachal Pradesh refresh you and fill you with new memories.

Follow COVID-19 Safety Guidelines

Wear mask properly | Wash hands with soap and water frequently or use sanitizer | Maintain social distancing

Be a responsible tourist. Follow Covid appropriate behaviour.

Heavenly Himachal

Department of Tourism & Civil Aviation
Block No. 28, SDA Complex, Kasumpti, Shimla (H.P.). Email: tourismmin-hp@nic.in,
Website : www.himachaltourism.gov.in, For accommodation and packages, visit: www.hptdc.in
Follow us: @hp_tourism /himachaltourismofficial